

सूक्ति त्रिवेणी

उपाध्याय अमरमुनि



मुनि

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

सूक्ति त्रिवेणी

सूक्ति त्रिवेणी

(जंन-धारा)

उपाध्याय अमर मुनि

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२

सन्मति साहित्य रत्नमाला का ९९ वा ग्रन्थ रत्न

पुस्तक :

सूचित त्रिवेणी
(जैन-धारा)

संपादक :

उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामंडी, आगरा-२८२ ००२

ब्रांच : वीरायतन

राजगृह-८०३ ११६ (नालंदा-बिहार)

द्वितीय प्रकाशन :

जून १९८८

मूल्य : ४०-००

मुद्रक :

प्रदीप मुनीत,

प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स,

४२७, गुलटेकडी, पुणे ४११ ०३७.

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली-४

दिनांक- २६ अगस्त, १९६८

इन्सान फितरतन आजाद मनिश होता है। किसी किस्म की पाबन्दी या रोक-टोक उसकी इस आजादी में रुकावट समझी जाती है। लेकिन समाजहित और अनुशासन के लिए यह जरूरी है कि कुछ ऐसे नियम निर्धारित हों, जो समाज को जंगल के कानून का शिकार न होने दें। यही वह नियम हैं, जो दुनियाँ के भिन्न-भिन्न धर्मों की आधार शिला है, खाह वह हिन्दुओं का धर्म हो या किसी और का। हकीकत तो यह है कि दुनियाँ का हर मजहब एखलाकी कदरों का एक मखजन है। उपाध्याय अमर मुनि की यह रचना इन्हीं नियमों और उपदेशों का संग्रह है, जिसमें जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म के चुने हुए उपदेशों का संग्रह एक पुस्तक के रूप में जन-साधारण की भलाई के लिए प्रकाशित किया गया है। मुझे विश्वास है कि अगर लोग इस किताब को पढ़ेंगे और इसमें दिये हुए इन उम्मीदों पर अमल करेंगे तो वह केवल अपने मजहब के लोगों के जीवन ही को नहीं, बल्कि अपने आस-पास के लोगों के जीवन को भी सुखमय और शान्तिपूर्ण बना सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि मुनिजी की रचना का लोग ध्यान से अध्ययन करेंगे और इच्छित लाभ उठा सकेंगे।

—जाकिर हुसैन

(राष्ट्रपति-भारत गणराज्य)

‘सूक्ति त्रिवेणी’ श्री उपाध्याय अमर मुनि की कृति है, अमर मुनिजी अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध हैं।

पुस्तक में जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य के सर्व मान्य ग्रन्थों से सुन्दर संग्रह किया गया है।

भारतवर्ष का यह काल निर्माण का समय है, परन्तु यह खेद की बात है कि यह निर्माण एकांगी हो रहा है। हमारी दृष्टि केवल भौतिकता की ओर है। हमारे निर्माण में जब तक आध्यात्मिकता नहीं आयेगी, तब तक यह निर्माण सांगोपांग और पूर्ण नहीं हो सकता। यह ग्रंथ इस दिशा में अच्छी प्रेरणा देता है।

—(सेठ) गोविन्ददास

संसद सदस्य

(अध्यक्ष : हिन्दी साहित्य सम्मेलन)

'सन्धि' राजघाट,
नई दिल्ली-१

इन दिनों में भारत में सब जगह जाकर लोगों को समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि भारतीय संस्कृति को हमें प्राणवान बनाकर विश्व की सेवा के योग्य बनाना ही तो हमें अब समन्वय-नीति को स्वीकार करना ही होगा। समन्वय नीति ही आज का युगधर्म है।

भारत में तीन दर्शनों की प्रधानता है। सनातनी संस्कृति के तीन दर्शनों का प्रभुत्व है (१) वैदिक अथवा श्रुति-स्मृति पुराणोक्त-दर्शन (२) जैन दर्शन और (३) बौद्ध दर्शन। इन तीनों दर्शनों ने भक्तियोग को कुछ न कुछ स्वीकार किया है। ये सब मिलकर भारतीय जीवन-दर्शन होता है।

इसी युगानुकूल नीति का स्वीकार जैन मुनि उपाध्याय अमर मुनि ने पूरे हृदय से किया है। और अभी-अभी उन्होंने इन तीनों दर्शनों में से महत्त्व के और सुन्दर सुभाषित चुनकर 'सूक्ति त्रिवेणी' तैयार की है। अमर मुनिजी ने आज तक बहुत महत्त्व का साहित्य दिया है, उसमें यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व की वृद्धि कर रहा है। तुलनात्मक अध्ययन से दृष्टि विशाल होती है और तत्त्व-निष्ठा दृढ़ होती है। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रंथ यह काम पूरी योग्यता से सम्पन्न करेगा।

मैं संस्कृति उपासकों को पूरे आग्रह से प्रार्थना करूँगा कि समय-समय पर इस त्रिवेणी में डुबकी लगाकर सांस्कृतिक पुण्य का अर्जन करें।

श्री अमर मुनिजी से भी मैं प्रार्थना करूँगा कि इस ग्रंथ के रूप में हिन्दी विभाग को उस की भाषा सामान्यजनसुलभ बनाकर अलग ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करें। ताकि भारत की विशाल जनता भी इससे पूरा लाभ उठावे। ऐसे सुलभ हिन्दी संस्करणों से पाठकों को मूल सूक्ति त्रिवेणी की ओर जाने की स्वाभाविक प्रेरणा होगी। मैं फिर से इस युगानुकूल प्रवृत्ति का और उसके प्रवर्तकों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

—काका कालेलकर

.....सूक्ति त्रिवेणी के प्रकाशन पर मुझे प्रसन्नता है, यह एक सुन्दर पुस्तक है, इससे समाज को लाभ पहुँचेगा और राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा मिलेगा, इस दिशा में आपका कार्य सराहनीय है, आप मेरी ओर से बधाई स्वीकार कीजिए।

—दौलतसिंह कोठारी

अध्यक्ष—विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग, नई दिल्ली

काव्य श्री जो महाराज न सतत परिश्रम एवं विशाल अध्ययन के आधार पर 'सूक्ति त्रिवेणी' का जो सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण संकलन प्रस्तुत किया है, वह वर्तमान समय का अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है।

इससे लेखक, प्रवक्ता, संशोधक, जिज्ञासु, स्वाध्याय प्रेमी आदि सभी को लाभ प्राप्त होगा। इस ग्रन्थरत्न का हार्दिक अभिनन्दन !

—आचार्यश्री आनन्दऋषिजी महाराज

उपाध्याय कवि अमर मुनि के बहिरंग से ही नहीं, अन्तरंग से भी मैं परिचित हूँ। उनकी दृष्टि उदार है और वे समन्वय के समर्थक हैं। 'सूक्ति त्रिवेणी' उनके उदार और समन्वयात्मक दृष्टिकोण का मूर्तरूप है। इसमें भारतीय धर्मदर्शन की त्रिवेणी का तटस्थ प्रवाह है। यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई कि इसमें हर युग की चिंतन धारा का अविरल समावेश है। यह सत्प्रयत्न भूरि-भूरि अनुमोदनीय है।

तेरापंथी भवन,

—आचार्य तुलसी

मद्रास

सत्य असौम्य है। जो असौम्य होता है, वह किसी सीमा में आवद्ध नहीं होता। सत्य न तो भाषा की सीमा में आवद्ध है और न सम्प्रदाय की सीमा में। वह देश, काल की सीमा में भी आवद्ध नहीं है। इस अनावद्धता को अभिव्यक्तित देना अनुसन्धित्सु का काम है।

उपाध्याय कवि अमर मुनि सत्य के अनुसन्धित्सु हैं। उन्होंने भाषा और सम्प्रदाय की सीमा से परे भी सत्य को देखा है। उनकी दिदृक्षा इस 'सूक्ति त्रिवेणी' में प्रतिबिम्बित हुई है।

कवि श्री ने सूक्ष्म के प्रति समदृष्टि का वरण कर अनाग्रहभाव से भारत के तीनों प्रमुख धर्म-दर्शनों (जैन, बौद्ध और वैदिक) के हृदय का एकीकरण किया है। कवि श्री जैसे मेधावी लेखक हैं, वैसे ही मेधावी चयनकार भी हैं। सत्य-जिज्ञासा की सम्मूर्ति, समन्वय और भारतीय आत्मा का संबोध इन तीनों दृष्टियों से प्रस्तुत ग्रंथ पठनीय बना है। आचार्य श्री ने भी उक्त दृष्टियों से इसे बहुत पसन्द किया है। मैं आशा करता हूँ कि कवि श्री की प्रबुद्ध लेखनी से और भी अनेक विन्यास प्रस्तुत होते रहेंगे।

तेरापंथी भवन

—मुनि नथमल

मद्रास

(युवाचार्य महाप्रज्ञ)

‘सूक्ति त्रिवेणी’ देखकर प्रसन्नता हुई। हमारे देश में प्राचीन भाषाओं का अध्ययन धर्म के साथ लगा हुआ है। इससे उसके अध्ययन के विभाग अलग-अलग रखे गये हैं और विद्यार्थियों को तुलनात्मक अध्ययन का अवकाश मिलता नहीं। आपने मागधी, अर्धमागधी, पालि और संस्कृत सबको साथ करके यह संग्रह किया है, वह बहुत अच्छा हुआ। इससे तुलनात्मक अध्ययन के लिए सुविधा होगी।

—प्रबोध वेचरदास पंडित
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

हमारे देश में प्राचीन काल से ही सर्व धर्म समभाव की परम्परा रही है। अपने अपने धर्म में आस्था और विश्वास रखते हुए भी दूसरे धर्मों के प्रति पूज्य भाव रखने की ही आज धर्मनिरपेक्षता कहा जाता है। पूज्य उपाध्याय अमर मुनि ने जैन, बौद्ध और वैदिक धाराओं के सूभाषितों को एक ग्रंथ में संग्रहित करके उस महान परम्परा को आगे बढ़ाया है। ‘सूक्ति त्रिवेणी’ ग्रंथ के प्रकाशन का मैं स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि बुद्धिजीवियों और अध्यात्म जिज्ञासुओं को यह प्रेरणा प्रदान करेगा।

—अक्षयकुमार जैन

संपादक : नवभारत टाइम्स, दिल्ली—वम्बई

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति का स्वरूपदर्शन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारतवर्ष में प्रचलित और प्रतिष्ठित विभिन्न संस्कृतियों का समन्वयात्मक दृष्टि से अध्ययन हो। भारतवर्ष की प्रत्येक संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट धारा है। वह उसी संस्कृति के विशिष्ट रूप का प्रकाशक है। यह बात सत्य है, परंतु यह बात भी सत्य है कि उन संस्कृतियों का एक समन्वयात्मक रूप भी है। जिसको उन सब विशिष्ट संस्कृतियों का समन्वित रूप माना जा सकता है, वही यथार्थ भारतीय संस्कृति है। प्रत्येक क्षेत्र में जो समन्वयात्मक रूप है, उसका अनुशीलन ही भारतीय संस्कृति का अनुशीलन है। गंगा-जमुना तथा सरस्वती इन तीन नदियों की पृथक् सत्ता और माहात्म्य रहने पर भी इनके परस्पर संयोग से जो त्रिवेणीसंगम की अभिव्यक्ति होती है, उसका माहात्म्य और भी अधिक है।

वर्तमान ग्रंथ के संकलनकर्ता परमश्रद्धेय उपाध्याय अमरमुनिजी श्वेतांबर जैन परम्परा के सुविख्यात महात्मा हैं। वे जैन होने पर भी विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के प्रति समरूपेण श्रद्धासम्पन्न हैं। वैदिक, जैन तथा बौद्ध वाङ्मय के प्रायः पचास ग्रंथों से उन्होंने चार हजार सूक्तियों का चयन किया है और साथ ही साथ उन सूक्तियों का हिंदी अनुवाद भी सन्निविष्ट किया है। तीन धाराओं के सम्मेलन से उद्भूत यह सूक्ति-त्रिवेणी सचमुच भारतीय संस्कृति के प्रेमियों के लिए एक महनीय तथा पावन तीर्थ बनेगी।

किसी देश की यथार्थ संस्कृति उसके बहिरंग के ऊपर निर्भर नहीं करती है। अपितु व्यक्ति की संस्कृति नैतिक उच्च आदर्श, चित्तशुद्धि, संयम, जीवसेवा, परोपकार तथा सर्वभूतहित-साधन की इच्छा, संतोष, दया, चरित्रबल, स्वधर्म में निष्ठा, परधर्म-सहिष्णुता, मैत्री, करुणा, प्रेम, सद्बिचार प्रभृति सद्गुणों का विकास और काम, क्रोधादि रिपुओं के नियंत्रण के ऊपर निर्भर करती है। व्यक्तिगत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, जनसेवा, विश्वकल्याण प्रभृति गुण आदर्श संस्कृति के अंग हैं। नैतिक, आध्यात्मिक तथा दिव्य जीवन का आदर्श ही संस्कृति का प्राण है।

‘ज्ञाने भोनं, क्षमा शक्तौ, त्यागे श्लाघाविपर्ययः’ इत्यादि आदर्श उच्च संस्कृति के द्योतक हैं। जिस प्रकार व्यष्टि में हैं, उसी प्रकार समष्टि में भी समझना चाहिए।

संकलनकर्ता ने वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्रभृति ग्रंथों से संकलन किया है। जैन धाराओं में आचारांग सूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, भगवती-सूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र और आचार्य भद्रबाहु के तथा आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों से तथा भाष्य साहित्य, चूर्ण साहित्य से सूक्तियों का संचयन किया है। बौद्ध धारा में सुत्तपिटक, दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, थेरगाथा, जातक, विशुद्धिमग्गो प्रभृति ग्रंथों से संग्रह किया है।

देश की वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि का व्यापक प्रसार जनता के भीतर होना आवश्यक है। इससे चित्त का संकोच दूर हो जाता है। मैं आशा करता हूँ कि श्रद्धेय ग्रंथकार का महान् उद्देश्य पूर्ण होगा और देशव्यापी क्लेशप्रद भेदभाव के भीतर अभेददृष्टिस्वरूप अमृत का संचार होगा। इस प्रकार के ग्रंथों का जितना अधिक प्रचार हो, उतना ही देश का कल्याण होगा।

-गोपीनाथ कविराज
पद्मविभूषण, महामहोपाध्याय
(वाराणसी)

सम्पादकीय

लगभग तीन दशक हुए जब 'महावीर-वाणी' के सम्पादन में सुविश्रुत पं. बेचरदासजी के साथ कुछ कार्य करने का सुप्रसंग मिला था। तभी से जैन आगम-साहित्य की सूक्तियों का विशाल संकलन करने की परिकल्पना अन्तर्मान में रूपायित होने लगी थी। यथावसर वह विकसित एवं गतिशील भी हुई, परन्तु अन्य अनेक व्यवधानों के कारण वह पूर्णता के बिन्दु पर पहुँचकर भी यथाभिलषित मूर्तरूप न ले सकी। इस दीर्घ अवधि के बीच विभिन्न स्थानों से, विभिन्न रूपों में, विभिन्न सूक्ति संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। अपने स्थान में प्रत्येक वस्तु की अपनी कुछ-न-कुछ उपयोगिता होती है, इसके अतिरिक्त मैं उनके संबंध में और अधिक क्या कह सकता हूँ। मुझे तो केवल अपनी बात कहनी है, और मैं वह कह रहा हूँ।

कुछ समय पूर्व समय की परतों के नीचे दबी हुई जैन-साहित्य के सुभाषितों की अपनी कुछ फाइलें टटोल रहा था, तो विचार आया कि इस अधूरे कार्य को अब पूर्ति के लक्ष्य पर ले आना चाहिए। तभी कुछ स्नेही-साथियों और जिज्ञासुओं के परामर्श मिले कि आगम-सूक्तियों के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हो जाने पर भी कुछ खटक उनमें रह गई है, इस कारण उनकी सार्वदेशिक उपयोगिता जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हो पाई। अतः आप कुछ मार्ग बदल कर चलें, तो अच्छा रहेगा।

अबतक के प्रकाशित अनेक संकलनों को एक दौड़ती नजर से देख जाने पर यह खटक वस्तुतः मन में खटक जाती है कि बहुत समय पहले जो दृष्टि-बिंदु महावीर-वाणी के साथ आगे आया था, अब तक के उत्तरवर्ती संकलनों में कोई भी संकलन उससे आगे नहीं बढ़ा है। प्रायः सभी उसी धुरी के अगल-बगल घूमते रहे हैं, फलतः उन्हीं सुभाषितों का कुछ हेर-फेर के साथ प्रकाशन होता रहा है।

जैन-साहित्य का सूक्ति भण्डार महासागर से भी गहरा है। उसमें एक-से-एक दिव्य असंख्य मणि-मुक्ताएँ छिपी पड़ी हैं। सुभाषित वचनामृतों का तो वह एक महान् अक्षर्यासिंधु है। अध्यात्म और वैराग्य के ही उपादेय नहीं, किन्तु पारिवारिक सामाजिक आदि अनेक जीवन-विधाओं के विकास एवं निखार के हेतु नीति, व्यवहार आदि के उत्कृष्ट सुपरीक्षित सिद्धान्त-वचन उनमें यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हें पाने के लिए कुछ गहरी डबकी लगानी पड़ती है। किनारे-किनारे घूमने से और दृष्टि को संकुचित रखने से वे दिखाई नहीं दे सकते हैं, पलक मारते सहसा उपलब्ध नहीं हो सकते।

प्राचीन आगमों के अतिरिक्त प्रकीर्णक, निर्याक्त, भाष्य और चूणि-साहित्य आदि में ऐसे प्रेरणाप्रद, जीवन-स्पर्शी, सरस सुभाषितों का विशाल भण्डार भरा हुआ है कि खोजते जाइए और उनके रसास्वादन से स्वयं तृप्त होकर दूसरों को भी तृप्त करते जाइए। आचार्य कुन्द कुन्द के अध्यात्म-रस से सुस्निग्ध सुभाषित आत्मा को छूते हुए-से लगेंगे, तो आचार्य भद्रबाहु और सिद्धसेन के सुवचन दर्शन की अतल गहराई से प्रस्फुटित होते जलस्रोत की तरह हृदय को आप्लावित करते हुए प्रतीत होंगे। ये सुभाषित जीवन में उतर जाएँ तो कहना ही क्या, परन्तु यदि इनका सतत स्वाध्याय भी किया जाए, तो भी हृदय में आनन्द की सुमधुर अनुभूतियाँ जगमगाने लगती हैं, एक दिव्य प्रकाश-सा चमकने लगता है और लगता है कि कुछ मिल रहा है, अंधकार की परतें टूट रही हैं, विकल्प शान्त हो रहे हैं और मन, वाणी एवं देह अपूर्व शान्ति, संतोष और शीतलता का अनुभव कर रहे हैं। इस प्रकार की अनुभूति ही अध्ययन की उप-योगिता है, स्वाध्याय की अमर फलश्रुति है।

इस संकलन में अज्ञात रूप से प्रेरक एक बात और भी है, जो मन को कुरेदती रही है, एक प्रेरणा बन कर इस कार्य को विराट रूप देने में संकल्पों को दृढ़ एवं दृढ़तर करती रही है। वह है, कि जैन-जगत के अनेक लेखक एवं प्रवक्ता जहाँ अपने लेखों तथा प्रवचनों में पुराणों एवं स्मृतियों के कुछ श्लोक, हितोपदेश आदि के कुछ सुभाषित, सूर, तुलसी और कबीर आदि के कुछ दोहे, शायरों के कुछ बहु प्रचलित उर्दू शेर, शेक्सपियर और गेटे की कुछ पंक्तियों का बार-बार उल्लेख करके जन-जीवन में प्रेरणा भरते रहते हैं, वहाँ उनके सरस्वती भण्डार में प्राचीन जैन-साहित्य की सूक्तियों का कुछ अभाव-सा खलता है। ऐसा लगता है कि वे अपने ही साहित्य और संस्कृति से अनजाने रहकर विश्व के सांस्कृतिक-समन्वय की भावना रखते हैं। इस बात में सिर्फ उनका ही दोष नहीं है, किन्तु इस प्रकार की भावना जगानेवाला वातावरण और साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में अभी उपलब्ध भी कहाँ हो रहा है? कुछ अध्ययनशीलता का अभाव और कुछ साहित्य की समुचित उपलब्धि का अभाव और कुछ सांस्कृतिक-परम्परा के संरक्षण की वृत्ति का अभाव — यों इन कारणों से एक प्रकार का सांस्कृतिक न्हास वर्तमान युग में हो रहा है और इसी सांस्कृतिक न्हास ने इस सूक्ति संकलन को कुछ विस्तार देने और साथ ही शीघ्रता से सम्पन्न होने में प्रेरणा दी है।

जैन साहित्य की सूक्तियों को बहुत व्यापकता के साथ संकलित करने का कल्पना को भी मुझे दो कारणों से सीमित करना पड़ा है। एक संकलन बहुत विशाल हो जाने के भय से सिर्फ प्राकृत साहित्य की सूक्तियाँ ही लेने का निश्चय

किया गया और उनमें भी कुछ प्रमुख ग्रन्थ ही हैं। सम्पूर्ण संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य को यों ही अछूता छोड़ देना पड़ा।

दूसरी बात, दिगम्बर-परम्परा के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सूक्तियों का बहुत संक्षेपीकरण करना पड़ा, कुछ समयभाव, कुछ शरीर की अस्वस्थता और कुछ ग्रन्थ की विशालता के भय से।

सूक्तियों के अनुवाद में एक विशेष दृष्टिकोण रखा गया है। दो हजार वर्ष प्राचीन भाषा के वर्तमान का अर्थ-बोध प्रायः विच्छिन्न-सा हो चुका है। तद्युगीन कुछ विशेष शब्दों और उपमानों से वर्तमान का पाठक अपरिचित-सा है। ऐसी स्थिति में प्राकृत सूक्तियों के शब्दानुवाद में पाठक उनकी मूल भावनाओं को सीधा हृदयंगम नहीं कर पाता, केवल शाब्दिक उल्लेख में भटक कर रह जाता है। इस दृष्टि से मैंने अनुवाद को भावानुलक्षी रखने का प्रयत्न किया है, ताकि प्राचीनतम प्राकृत-भाषा के मूल अभिप्राय को पाठक सरलता और सरसता के साथ ग्रहण कर सकें। कुछ सांस्कृतिक एवं पारिभाषिक शब्दों से परिचय बनाए रखने की दृष्टि से उन्हें भी यथास्थान रखा गया है और साथ में उनका अर्थ भी दे दिया है।

सूक्तियों को विषयानुक्रम से रखने की कल्पना भी सामने थी। किन्तु, इससे एक ही आगम एवं एक ही आचार्य की सूक्तियाँ बिखर जातीं और उनकी धारा तथा स्वारस्य खण्डित-सा हो जाता, इसलिए उन्हें विषयानुक्रम में नहीं रख कर, ग्रन्थानुक्रम से ही रखा गया है। जिन ग्रन्थों की सूक्तियाँ बहुत ही अल्प मात्रा में ली गईं, उन बिखरी हुई सूक्तियों का समावेश अन्त में सूक्ति-कण शीर्षक से कर दिया गया है।

अनेक अज्ञेय विद्वानों की यह शिकायत भी मेरे ध्यान में रही है, कि वे प्राचीन जैन वाङ्मय के सुभाषितों का रसास्वाद लेना चाहते हुए भी ले नहीं पाते हैं, क्योंकि ऐसा कोई संग्रह उनके सामने ही नहीं है, जो स्वल्प श्रम एवं स्वल्प समय में उनकी जिज्ञासा को तृप्त कर सके। मुझे आशा है, कि उनकी इस शिकायत को भी इस संग्रह से कुछ समाधान मिल सकेगा।

आशा है, इस संग्रह का प्राचीन सूक्तियों एवं सुभाषितों के क्षेत्र में एक नवीनता के साथ पाठक स्वागत करेंगे और इसके स्वाध्याय से वे भारत का कुछ न कुछ प्राचीन ज्ञानालोक प्राप्त कर प्रमुदित होंगे।

नाग पञ्चमी : आगरा

दिनांक : १० अगस्त १९६७

-उपाध्याय अमर मुनि

पुनश्च-

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम संस्करण के समय सूक्ति-त्रिवेणी के एक अंग विशेष रूप 'जैन-धारा' के नाम से प्रकाशित हुआ था। पुस्तक ने जैन-अजैन सभी परम्पराओं के विद्वद्-जनों एवं साधारण जिज्ञासु पाठकों के हृदयों को समादर की भावना से आप्लावित किया है। इसकी इतनी मांग रही है, कि सबसे पहले यही संस्करण प्रकाशन-कोष में से समाप्त हुआ। इधर काफी समय से मांग-पर-मांग बढ़ती जा रही थी, किन्तु मैं शारीरिक दृष्टि से वृद्धावस्था से आक्रान्त हुआ और साथ ही रोगाक्रान्त भी। अतः द्वितीय संस्करण को और अधिक पल्लवित और पुष्पित करने की आकांक्षा में समय का प्रवाह काफी दूर तक बह गया और आखिर में अपने संकल्पों को यथाविधि रूपायित न कर सका।

इधर श्रमण भगवान महावीर की पच्चीसवीं शती के रूप में वैभारगिरि-राजगृह की पावन उपत्यका में वीरायतन के पुनीत नाम से मानवीय जीवन के अनेक विध जीवन-आयामों को मंगल-कल्याण के रूप में स्पर्श करता हुआ एक महान संस्थान रूपायित हुआ। उक्त संस्थान का एक अंग मानव-जाति को सद्-बोध देने हेतु ज्ञान-प्रसार भी है। साथ ही अपने प्राचीन महापुरुषों के द्वारा सुपरीक्षित सांस्कृतिक अनुभवों का प्रचार-प्रसार करना भी है। अतः यथाप्रसंग कुछ अच्छे एवं महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी वीरायतन के माध्यम से विगत में हुए हैं। और, उन्होंने जिज्ञासु जनता में आशा के अधिक स्वागत-सत्कार भी प्राप्त किया है।

सूक्ति त्रिवेणी का जैन-धारा अंश समाप्त हो गया, तो आचार्य रत्न श्री चन्दनाश्रीजी तथा वीरायतन के उदात्त विचारक अध्यक्ष महोदय श्री नवलमलजी फिरोदिया (पूना) ने आग्रह किया, कि कुछ भी हो कम-से-कम सूक्ति त्रिवेणी का जैन-धर्म से सम्बन्धित अंश तो अभी प्रकाशित हो ही जाना चाहिए। अस्तु, यह पुनर्मुद्रण सुपरिष्कृत रूप में प्रकाशन की भूमिका पर जा रहा है, यह उन्हीं के सदाग्रह का सुफल है। एतदर्थ दोनों महानुभाव ज्ञान-पिपासु जनता की ओर से हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

वीरायतन : राजगृह
महावीर केवलज्ञान कल्याणक
वैशाख शुक्ल दशमी

—उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशकीय

चिरअभिलषित, चिरप्रतीक्षित—‘सूक्ति त्रिवेणी’ का सुन्दर और महत्त्वपूर्ण संकलन अपने प्रिय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

जैन जगत के बहुश्रुत मनीषी, प्रज्ञामहर्षि उपाध्यायश्रीजी की चिन्तन और ओजपूर्ण लेखनी से वर्तमान का जैन-समाज ही नहीं, किंतु भारतीय-संस्कृति और दर्शन का प्रायः प्रत्येक प्रबुद्ध जिज्ञासु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित है। निरंतर बढ़ती जाती वृद्धावस्था, साथ ही अस्वस्थता के कारण उनका शरीर बल काफी क्षीण हो रहा है, किंतु जब प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में वे आठ-आठ, दस-दस घंटा सतत संलग्न रहते, पुस्तकों के बीच खोए रहते, तब लगता था कि उपाध्याय-श्रीजी अभी युवा हैं, उनकी साहित्य-श्रुत-साधना अभी वैसी ही तीव्र है, जैसी कि निशीथ-भाष्य-चूर्णिके के संपादन के समय थी।

‘सूक्ति त्रिवेणी’ सूक्ति और सुभाषितों के क्षेत्र में अपने साथ एक नवीन युग का श्री गणेश कर रही है। इस प्रकार के तुलनात्मक और अनुशीलनपूर्ण संग्रह का अब तक भारतीय-वाङ्मय में अभाव था, उस अभाव की पूर्ति यह नवीन युग का प्रारंभ है।

इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन एक ऐसी दिशा में हो रहा है, जो अपने समग्र जैन समाज के लिए महत्त्वपूर्ण अवसर है। श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस-सौवीं निर्वाण तिथि मनाने के सामूहिक प्रयत्न तीव्रता के साथ चल रहे हैं। विविधप्रकार के साहित्य प्रकाशन की योजनाएँ बन रही हैं। सन्मति ज्ञान पीठ इस दिशा में अपने सांस्कृतिक प्रकाशनों को गतिशील करने के लिए सचेष्ट है। ‘सूक्ति त्रिवेणी’ का यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन उसी उपलक्ष्य में हमारा पहला श्रद्धास्निग्ध उपहार है।

सूक्ति त्रिवेणी की तीनों धाराएँ संयुक्त रूप से आकार में बड़ी होंगी, इसलिए अलग-अलग खण्डों में भी प्रकाशित करने का निश्चय किया है। तदनुसार ‘जैन-धर्म-धारा’ के रूप में प्रथम खण्ड हम अपने पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

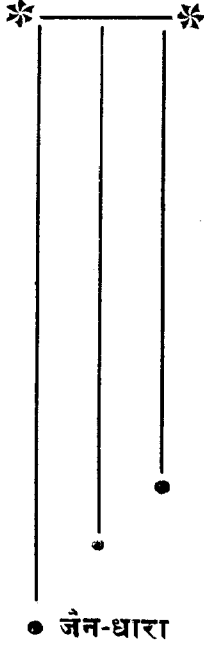
विद्वानों, रिसर्च स्कालरों एवं सामान्य पाठकों ने इससे काफी लाभ उठाया है। विद्वानों के आग्रह को आदर देते हुए यह द्वितीय संस्कारण प्रकाशित कर रहे हैं। तत्पश्चात् शीघ्र ही बौद्ध-धारा एवं वैदिक-धारा का भी प्रकाशन करने जा रहे हैं।

—मंत्री,
सन्मति ज्ञानपीठ

अनुक्रम

ग्रन्थ	सूक्तिसंख्या	पृष्ठ
१—आचारंग की सूक्तियाँ	१२५	२
२—सूत्रकृतांग की सूक्तियाँ	११८	२८
३—स्थानांग की सूक्तियाँ	५४	४८
४—भगवती सूत्र की सूक्तियाँ	३१	६४
५—प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियाँ	४६	७२
६—दशवैकालिक की सूक्तियाँ	८५	८२
७—उत्तराध्ययन की सूक्तियाँ	१७६	९८
८—आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियाँ	१०१	१३२
९—आचार्य कुन्दकुन्द की सूक्तियाँ	९९	१५६
१०—भाष्यसाहित्य की सूक्तियाँ	१६४	१७६
११—चूर्णिसाहित्य की सूक्तियाँ	९०	२१०
१२—सूक्तिकण	११२	२२६

सूक्ति त्रि वे णी



आचारांग की सूक्तियों का अनुवाद

१. यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है... आत्मा के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुतः आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एवं क्रियावादी है ।
२. यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुतः ग्रन्थ = बन्धन है, यही मोह है, यही मार = मृत्यु है, और यही नरक है ।
३. जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधना-पथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्त्रोतसिका (मन की शंका या कुण्ठा) से दूर रहकर उसका अनुपालन करना चाहिए ।
४. जो लोक (अन्य जीवसमूह) का अपलाप करता है, वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है ।
जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक (अन्य जीव-समूह) का भी अपलाप करता है ।
५. सतत अप्रमत्त = जाग्रत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषों ने मन के समग्र द्वन्द्वों को अभिभूत कर, सत्य का साक्षात्कार किया है ।
६. जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवों को दण्ड (पीड़ा) देने वाला होता है ।

आचारांग की सूक्तियाँ

१. अत्थि मे आया उववाइए...
से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।
—११११
२. एस खलु गंधे एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए ।
—१११२
३. जाए सद्धाए निक्खंते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहिता विसोत्तियं ।
—१११३
४. जे लोगं अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति, से लोगं अब्भाइक्खति ।
—१११३
५. वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं ।
—१११४
६. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे त्ति पवुच्चति ।
—१११४

७. तं परिण्णाय मेहावी,
इयाणि णो, जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ।

—१११४

८. जे अज्झत्थं जाणइ, से वहिया जाणइ ।
जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।
एयं तुलमन्नेसि ।

—१११४

९. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

—१११५

१०. आतुरा परितावैति ।

—१११६

११. अप्पेगे हिंसिसु मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति ।

—१११६

१२. से ण हासाए, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए ।

—११२१

१३. अंतरं च खलु इमं संपेहाए,
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए ।

—११२१

१४. वओ अच्चेति जोव्वणं च ।

—११२१

१५. अणभिव्वकंतं च वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए ।

—११२१

१६. अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के ।

—११२२

७. मेधावी साधक को आत्मपरिज्ञान के द्वारा यह निश्चय करना चाहिए कि —“मैंने पूर्वजीवन में प्रमादवश जो कुछ भूलें की हैं, वे अब कभी नहीं करूँगा।”
८. जो अपने अन्दर (अपने सुख दुःख की अनुभूति) को जानता है, वह बाहर (दूसरों के सुख दुःख की अनुभूति) को भी जानता है।
जो बाहर को जानता है, वह अन्दर को भी जानता है।
इस प्रकार दोनों को, स्व और पर को एक तुला पर रखना चाहिए।
९. जो काम-गुण है, इन्द्रियों का शब्दादि विषय है, वह आवर्त = संसार-चक्र है।
और जो आवर्त है, वह कामगुण है।
१०. विषयातुर मनुष्य ही दूसरे प्राणियों को परिताप देते हैं।
११. 'इसने मुझे मारा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
'यह मुझे मारता है'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करने हैं।
'यह मुझे मारेगा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।
१२. वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास-परिहास के योग्य रहता है, न क्रीड़ा के, न रति के और न शृंगार के योग्य ही।
१३. अनन्त जीवन-प्रवाह में, मानव जीवन को बीच का एक सुअवसर जान कर, धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।
१४. आयु और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।
१५. हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन की ही लक्ष्य में रखते हुए प्राप्त अवसर को परख। समय का मूल्य समझ !
१६. अरति (संयम के प्रति अरुचि) से मुक्त रहने वाला मेधावी साधक क्षण भर में ही बन्धनमुक्त हो सकता है।

छः

सूक्ति त्रिवेणी

१७. अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्ठंति,
मंदा मोहेण पाउडा ।

—१।२।२

१८. इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए ।

—१।२।२

१९. विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

—१।२।२

२०. लोभमलोभेण दुगुच्छमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।

—१।२।२

२१. विणा वि लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति पासति ।

—१।२।२

२२. से असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए ।
नो हीणे, नो अइरित्ते ।

—१।२।३

२३. तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुप्पे ।

—१।२।३

२४. अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए ।
अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए ।
अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए ।

—१।२।३

२५. वितहं पप्प ऽ खेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

—१।२।३

१७. मोहाच्छन्न अज्ञानी साधक संकट आने पर धर्म शासन की अवज्ञा कर फिर संसार की ओर लौट पड़ते हैं ।
१८. बार-बार मोहग्रस्त होने वाला साधक न इस पार रहता है, न उस पार; अर्थात् न इस लोक का रहता है और न पर लोक का ।
१९. जो साधक कामनाओं को पार कर गए हैं, वस्तुतः वे ही मुक्त पुरुष हैं ।
२०. जो लोभ के प्रति अलोभवृत्ति के द्वारा विरक्त रखता है, वह और तो क्या, प्राप्त काम-भोगों का भी सेवन नहीं करता है ।
२१. जिस साधक ने बिना किसी लोक-परलोक की कामना के निष्क्रमण किया है, प्रव्रज्या ग्रहण की है, वह अकर्म (बन्धन-मुक्त) होकर सब-कुछ का ज्ञाता, द्रष्टा हो जाता है ।
२२. यह जीवात्मा अनेक बार उच्च गोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र में ।
इस प्रकार विभिन्न गोत्रों में जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान् ।
२३. आत्मज्ञानी साधक को ऊँची या नीची किसी भी स्थिति में न हषित होना चाहिए, और न कुपित ।
२४. जो वासना के प्रवाह को नहीं तैर पाए हैं, वे संसार के प्रवाह को नहीं तैर सकते ।
जो इन्द्रियजन्य कामभोगों को पार कर तट पर नहीं पहुँचे हैं, वे संसार-सागर के तट पर नहीं पहुँच सकते । जो राग द्वेष को पार नहीं कर पाए हैं, वे संसार सागर से पार नहीं हो सकते ।
२५. अज्ञानी साधक जब कभी असत्य विचारों को सुन लेता है, तो वह उन्हीं में उलझ कर रह जाता है ।

२६. उद्देसो पासगस्स नत्थि ।
—१२।३
२७. नत्थि कालस्स णागमो ।
—१२।३
२८. सव्वे पाणा पिआउया,
सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो,
जीविउ कामा
सव्वेसि जीवियं पियं
नाइवाएज्ज कंचणं ।
—१२।३
२९. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ।
—१२।४
३०. आसं च छंदं च विग्गिच धीरे !
तुमं चेव सल्लमाहट्टु ।
—१२।४
३१. जेण सिया, तेण णो सिया ।
—१२।४
३२. अलं कुसलस्स पमाएणं ।
—१२।४
३३. एस वीरे पसंसिए,
जे ण णिविज्जति आदाणाए ।
—१२।४
३४. लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा ।
—१२।५
३५. बहं पि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।
—१२।५

२६. तत्त्व-द्रष्टा को किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं है ।
२७. मृत्यु के लिए अकाल = वक्त-बेवक्त जैसा कुछ नहीं है ।
२८. सब प्राणियों को अपनी जिन्दगी प्यारी है ।
 सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा ।
 वध सब को अप्रिय है, जीवन प्रिय ।
 सब प्राणी जीना चाहते हैं,
 कुछ भी हो, सबको जीवन प्रिय है ।
 अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो ।
२९. प्रत्येक व्यक्ति का सुख-दुःख अपना-अपना है ।
३०. हे धीर पुरुष ! आशा-तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग कर ।
 तू स्वयं ही इन कांटों को मन में रखकर दुःखी हो रहा है ।
३१. तुम जिन (भोगों या वस्तुओं) से सुख की आशा रखते हो, वस्तुतः वे सुख के हेतु नहीं हैं ।
३२. बुद्धिमान साधक को अपनी साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।
३३. जो अपनी साधना में उद्विग्न नहीं होता है, वही वीर साधक प्रशंसित होता है ।
३४. वस्तु के मिलने पर गर्व न करे ।
 और, न मिलने पर शोक न करे ।
३५. अधिक मिलने पर भी संग्रह न करे ।
 परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे ।

३६. कामा दुरतिक्कम्मा ।

—१।२।५

३७. जीवियं दुप्पडिबूहं ।

—१।२।५

३८. एस वीरे पसंसिए,
जे बद्धे पडिमोयए ।

—१।२।५

३९. जहा अंतो तहा बाहि,
जहा बाहि तहा अंतो ।

—१।२।५

४०. से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी ।

—१।२।५

४१. वेरं वड्ढेइ अप्पणो ।

—१।२।५

४२. अलं बालस्स संगेणं ।

—१।२।५

४३. पावं कम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा ।

—१।२।६

४४. सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वह ।

—१।२।६

४५. जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं ।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं ।

—१।२।६

४६. जे अणण्णदंसी से अण्णारामे,
जे अण्णारामे, से अण्णदंसी ।

—१।२।६

३६. कामनाओं का पार पाना बहुत कठिन है ।
३७. नष्ट होते जीवन का कोई प्रतिव्यूह अर्थात् प्रतिकार नहीं है ।
३८. वही वीर प्रशंसित होता है, जो अपने को तथा दूसरों को दासता के बन्धन से मुक्त कराता है ।
३९. यह शरीर जैसा अन्दर में (असार) है, वैसा ही बाहर में (असार) है । जैसा बाहर में (असार) है, वैसा ही अन्दर में (असार) है ।
४०. विवेकी साधक लार = थूक चाटने वाला न बने, अर्थात् परित्यक्त भोगों की पुनः कामना न करे ।
४१. विषयातुर मनुष्य, अपने भोगों के लिए संसार में बैर बढ़ाता रहता है ।
४२. बाल जीव (अज्ञानी) का संग नहीं करना चाहिए ।
४३. पापकर्म (असत्कर्म) न स्वयं करे, न दूसरों से करवाए ।
४४. मनुष्य अपनी ही भूलों से संसार की विचित्र स्थितियों में फँस जाता है ।
४५. जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुतः ममत्व=परिग्रह का त्याग कर सकता है ।
वही मुनि वास्तव में पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है— जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नहीं रखता है ।
४६. जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता है, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है । और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नहीं रखता है ।

४७. जहा पुण्णस्स कत्थइ, तथा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तथा पुण्णस्स कत्थइ ।
—१।२।६
४८. कुसले पुण नो बद्धे, न मुत्ते ।
—१।२।६
४९. सुत्ता अमुणी,
मुणिणो सया जागरन्ति ।
—१।३।१
५०. लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं ।
—१।३।१
५१. माई पमाई पुण एइ गब्भं ।
—१।३।१
५२. माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ ।
—१।३।१
५३. पन्नाणेहिं परियाणह लोयं मुणीत्ति वुच्चे ।
—१।३।१
५४. आरंभजं दुक्खमिणं ।
—१।३।१
५५. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।
—१।३।१
५६. कम्मुणा उवाही जायइ ।
—१।३।१
५७. कम्ममूलं च जं छणं ।
—१।३।१
५८. सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ।
—१।३।२

४७. निःस्पृह उपदेशक जिस प्रकार पुण्यवान (संपन्न व्यक्ति) को उपदेश देता है, उसी प्रकार तुच्छ (दीन दरिद्र व्यक्ति) को भी उपदेश देता है।
और जिस प्रकार तुच्छ को उपदेश देता है, उसी प्रकार पुण्यवान को भी उपदेश देता है अर्थात् दोनों के प्रति एक जैसा भाव रखता है।
४८. कुशल पुरुष न बद्ध है और न मुक्त।
(ज्ञानी के लिए बन्ध या मोक्ष—जैसा कुछ नहीं है)
४९. अज्ञानी सदा सोये रहते हैं और ज्ञानी सदा जागते रहते हैं।
५०. यह समझ लीजिए कि संसार में अज्ञान तथा मोह ही अहित और दुःख करने वाला है।
५१. मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ में अवतरित होता है, जन्म-मरण करता है।
५२. मृत्यु से सदा सतर्क रहने वाला साधक ही उससे छुटकारा पा सकता है।
५३. जो अपनी प्रज्ञा से संसार के स्वरूप को ठीक तरह जानता है, वही मुनि कहलाता है।
५४. यह सब दुःख आरम्भज है, हिंसा में से उत्पन्न होता है।
५५. जो कर्म में से अकर्म की स्थिति में पहुँच गया है, वह तत्त्वदर्शी लोक-व्यवहार की सीमा से परे हो गया है।
५६. कर्म से ही समग्र उपाधियाँ = विकृतियाँ पैदा होती हैं।
५७. कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिंसा है।
५८. सम्यग्दर्शी साधक पाप-कर्म नहीं करता।

५९. कामेसु गिद्धा निचयं करेति ।
— १।३।२
६०. आयंकदंसी न करेइ पावं ।
— १।३।२
६१. सच्चंमि धिइं कुव्वह ।
— १।३।२
६२. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे ।
से केयणं अरिहए पूरइत्तए ।
— १।३।२
६३. अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ।
— १।३।२
६४. आयओ बहिया पास ।
— १।३।३
६५. विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा,
महया खुड्ढएहि य ।
— १।३।३
६६. का अरई के आणंदे ?
— १।३।३
६७. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
कि बहिया मित्तमिच्छसि ?
— १।३।३
६८. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।
— १।३।३
६९. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।
— १।३।३

५९. कामभोगों में गृद्ध = आसक्त रहने वाले व्यक्ति कर्मों का बन्धन करते हैं।
६०. जो संसार के दुःखों का ठीक तरह दर्शन कर लेता है वह कभी पापकर्म नहीं करता है।
६१. सत्य में धृति कर, सत्य में स्थिर हो।
६२. यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है।
वह अपनी कामनाओं की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह से छलनी को जल से भरना चाहता है।
६३. (साधक अपनी दृष्टि ऊँची रखे, क्षुद्र भोगों की ओर निम्न दृष्टि न रखे) उच्च दृष्टिवाला साधक ही पाप कर्मों से दूर रहता है।
६४. अपने समान ही बाहर में दूसरों को भी देख।
६५. महान हों या क्षुद्र हों, अच्छे हों या बुरे हों, सभी विषयों से साधक को विरक्त रहना चाहिए।
६६. ज्ञानी के लिए क्या दुःख, क्या सुख ? कुछ भी नहीं।
६७. मानव ! तू स्वयं ही अपना मित्र है। तू बाहर में क्यों किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है।
६८. मानव ! अपने आपको ही निग्रह कर। स्वयं के निग्रह से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है।
६९. हे मानव, एक मात्र सत्य को ही अच्छी तरह जान ले, परख ले।

७०. सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ।

—१।३।३

७१. सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो शंझाए ।

—१।३।३

७२. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥

—१।३।४

७३. सव्वओ पमत्तस्स भयं,
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

—१।३।४

७४. जे एगं नामे, से बहुं नामे ।

—१।३।४

७५. एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ ।

—१।३।४

७६. अत्थि सत्थं परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—१।३।४

७७. किमत्थि उवाही पासगस्स, न विज्जइ ?
नत्थि ।

—१।३।४

७८. न लोगस्सेसणं चरे ।
जस्स नत्थि इमा जाई,
अण्णा तस्स कओ सिया ?

—१।४।१

७०. जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहता है, वह मार = मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है ।
७१. सत्य की साधना करने वाला साधक सब ओर दुःखों से घिरा रहकर भी घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता है ।
७२. जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है ।
[जिस प्रकार समग्र विश्व अनन्त है, उसी प्रकार एक छोटे-से छोटा पदार्थ भी अनन्त है, अनन्त गुण पर्याय वाला है—अतः अनंत ज्ञानी ही एक और सबका पूर्ण ज्ञान कर सकता है ।]
७३. प्रमत्त को सब ओर भय रहता है ।
अप्रमत्त को किसी ओर भी भय नहीं है ।
७४. जो एक अपने को नमा लेता है-- जीत लेता है, वह समग्र संसार को नमा (जीत) लेता है ।
७५. जो मोह को क्षय करता है, वह अन्य अनेक कर्म-विकल्पों को क्षय करता है ।
७६. शस्त्र=हिंसा एक-से-एक बढ़कर है । परन्तु, अशस्त्र (अहिंसा) एक-से-एक बढ़कर नहीं है, अर्थात् अहिंसा की साधना से बढ़कर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नहीं है ।
७७. वीतराग सत्यद्रष्टा की कोई उपाधि होती है या नहीं ?
नहीं होती है ।
७८. लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए । जिसको यह लोकैषणा नहीं है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तियाँ कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् वह समस्त पाप-वृत्तियों से मुक्त है ।

७९. जे आसवा ते परिससवा,
जे परिससवा ते आसवा ।
जे अणासवा ते अपरिससवा,
जे अपरिससवा ते अणासवा ।

—१।४।२

८०. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि ।

—१।४।२

८१. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो,
एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो,
सव्वे पाणा, सव्वे भूया,
सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा
न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा
न उद्वेयव्वा ।
इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो ।
आरियवयणमेयं ।

—१।४।२

८२. पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि—
“हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं असायं ?”
समिया पडिवण्णो या वि एवं बूया—
“सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं,
सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं,
असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ।”

—१।४।२

८३. उवेह एणं बहिया य लोगं,
से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू ।

—१।४।३

७९. जो बन्धन के हेतु हैं, वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे ही कभी बन्धन के हेतु भी हो सकते हैं ।

जो व्रत उपवास आदि संवर के हेतु हैं, वे कभी कभी संवर के हेतु नहीं भी हो सकते हैं और जो आस्रव के हेतु हैं, वे कभी-कभी आस्रव के हेतु नहीं भी हो सकते हैं ।

(आस्रव और संवर आदि सब मूलतः साधक के अन्तरंग भावों पर आधारित हैं ।)

८०. मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को मृत्यु न आए, यह कभी नहीं हो सकता ।

८१. हम ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते हैं, ऐसी प्ररूपणा करते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि—

किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्त्व को न मारना चाहिए, न उनपर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन को गुलामों की तरह पराधीन बनाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए ।

उक्त अहिंसा धर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है, यह ध्यान में रखिए । अहिंसा वस्तुतः आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है ।

८२. सर्वप्रथम विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रतिपाद्य को जानना चाहिए, और फिर हिंसाप्रतिपादक मतवादियों से पूछना चाहिए कि—

“ हे प्रवादियों ! तुम्हें सुख प्रिय लगता है या दुःख ? ”

“ हमें दुःख अप्रिय है, सुख नहीं ”—यह सम्यक् स्वीकार कर लेने पर उन्हें स्पष्ट कहना चाहिए कि “ तुम्हारी ही तरह विश्व के समस्त प्राणी, जीव, भूत और सत्त्वों को भी दुःख अशान्ति (व्याकुलता) देने वाला है, महाभय का कारण है और दुःखरूप है । ”

८३. अपने धर्म से विपरीत रहने वाले लोगों के प्रति भी उपेक्षाभाव (=मध्यस्थता का भाव) रखो ।

जो कोई विरोधियों के प्रति उपेक्षा = तटस्थता रखता है, उद्विग्न नहीं होता है, वह समग्र विश्व के विद्वानों में अग्रणी विद्वान् है ।

८४. एगमप्पाणं संवेहाए धुणे सरीरगं ।
—१४।३
८५. कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ।
—१४।३
८६. जहा जुन्नाइं कट्ठाइं ह्ववाहो पमत्थइ,
एवं अत्तसमाहिए अणिहे ।
—१४।३
८७. जस्स नत्थि पुरा पच्छा,
मज्जे तस्स कुओ सिया ?
—१४।४
८८. से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए ।
—१४।४
८९. जे छेए से सागारियं न सेवेइ ।
—१५।१
९०. गुरू से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे ।
नेव से अंतो नेव दूरे ।
—१५।१
९१. उट्ठिए नो पमायए ।
—१५।२
९२. पुढो छंदा इह माणवा ।
—१५।२
९३. वन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।
—१५।२
९४. नो निन्हवेज्ज वीरियं ।
—१५।३

८४. आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को धुन डालो ।
८५. अपने को कुश करो, तन-मन को हल्का करो ।
अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो ।
८६. जिस तरह अग्नि पुराने सूखे काठ को शीघ्र ही भस्म कर डालती है, उसी तरह सतत अप्रमत्त रहनेवाला आत्मसमाहित निःस्पृह साधक कर्मों को कुछ ही क्षणों में क्षीण कर देता है ।
८७. जिसको न कुछ पहले है और न कुछ पीछे है, उसको बीच में कहाँ से होगा ?
(जिस साधक को न पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण होता है, और न भविष्य के भोगों की ही कोई कामना होती है, उसको वर्तमान में भोगा-सक्ति कैसे हो सकती है ?)
८८. जो आरंभ (= हिंसा) से उपरत है, वही प्रज्ञानवान् बुद्ध है ।
८९. जो कुशल हैं, वे काम भोगों का सेवन नहीं करते ।
९०. जिसकी कामनाएँ तीव्र होती हैं, वह मृत्यु से ग्रस्त होता है और जो मृत्यु से ग्रस्त होता है, वह शाश्वत सुख से दूर रहता है ।
परन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है और न शाश्वत सुख से दूर ।
९१. जो कर्तव्य पथ पर उठ खड़ा हुआ है, उसे फिर प्रमाद नहीं करना चाहिए ।
९२. संसार में मानव भिन्न-भिन्न विचार वाले हैं ।
९३. वस्तुतः बन्धन और मोक्ष अन्दर में ही है ।
९४. अपनी योग्य शक्ति को कभी छुपाना नहीं चाहिए ।

९५. इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ ।

— ११५१३

९६. जुद्धारिहं खलु दुल्लभं ।

— ११५१३

९७. वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा

— ११५१४

९८. वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं
नो लहई समाहिं ।

— ११५१५

९९. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि ।

— ११५१५

१००. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण बियाणइ से आया । तं पडुच्च पडिसंखाए ।

— ११५१५

१०१. सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ न विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया ।

— ११५१६

१०२. नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा ।

— ११६१५

१०३. गामे वा अदुवा रण्णे ।
नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह ।

— ११८११

९५. अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर ।
बाहर के युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?
९६. विकारों से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर मिलना दुर्लभ है ।
९७. कुछ लोग मामूली कहा-मुनी होते ही क्षुब्ध हो जाते हैं ।
९८. शंकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नहीं मिलती ।
९९. जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है ।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है ।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है ।
(स्वरूप दृष्टि से सब चैतन्य एक समान हैं । यह अद्वैत भावना ही
अहिंसा का मूलाधार है ।)
१००. जो आत्मा है, वह विज्ञाता है ।
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है ।
जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है ।
जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है ।
१०१. आत्मा के वर्णन में सबके सब शब्द निवृत्त हो जाते हैं,
समाप्त हो जाते हैं ।
वहाँ तर्क की गति भी नहीं है
और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह ग्रहण कर पाती है ।
१०२. न अपनी अवहेलना करो और न दूसरों की ।
१०३. धर्म गाँव में भी हो सकता है, और अरण्य (= जंगल) में भी । क्योंकि
वस्तुतः धर्म न गाँव में कहीं होता है और न अरण्य में, वह तो अन्त-
रात्मा में होता है ।

१०४. जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभति,
तेसिं पि वयं लज्जामो ।
—१।८।१
१०५. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ।
—१।८।३
१०६. एगे अहमंसि, न मे अत्थि कोइ,
न याऽहमवि कस्स वि ।
—१।८।६
१०७. जीवियं नाभिकंखिज्जा,
मरणं नो वि पत्थए ।
दुहओ वि न सज्जेजा,
जीविए मरणे तहा ॥
—१।८।८।४
१०८. गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए ।
—१।८।८।११
१०९. इदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे मुणी ।
तहा वि से अगरेहे, अचले जे समाहिए ।
—१।८।८।१४
११०. वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा
—१।८।८।२१
१११. नो वयणं फरुसं वइज्जा ।
—२।१।६
११२. नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा ।
—२।३।१
११३. राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा
नो अंतरा भासं भासिज्जा ।
—२।३।३
११४. मणं परिजाणइ से निगंथे ।
—२।३।१५।१

१०४. यदि कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म के नाम पर जीवों की हिंसा करते हैं, तो हम इससे भी लज्जानुभूति करते हैं ।
१०५. आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है ।
१०६. मैं एक हूँ—अकेला हूँ ।
न कोई मेरा है, और न मैं किसीका हूँ ।
१०७. साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे । वह जीवन और मरण दोनों में ही किसी तरह की आसक्ति न रखे, तटस्थ भाव से रहे ।
१०८. साधक को अन्दर और बाहर की सभी ग्रन्थियों (बन्धन रूप गाँठों) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूर्ण करनी चाहिए ।
१०९. शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी मुनि अन्तर्मन में समभाव (=स्थिरता) रखे । इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निद्य नहीं है, यदि वह अन्तरंग में अविचल एवं समाहित है तो !
११०. सब प्रकार से शरीर का मोह छोड़ दीजिए, फलतः परीषहों के आने पर विचार कीजिए कि मेरे शरीर में परीषह हैं ही नहीं ।
१११. कठोर=कटु वचन न बोले ।
११२. संकट में मन को ऊँचा-नीचा अर्थात् डाँवाडोल नहीं होने देना चाहिए ।
११३. अपने से बड़े गुरुजन जब बोलते हों, विचार-चर्चा करते हों, तो उनके बीच में न बोले ।
११४. जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है वही सच्चा निर्ग्रन्थ साधक है ।

११५. अणुवीइ भासी से निग्गंथे ।
—२।३।१५।२
११६. अणुणुवीइ भासी से निग्गंथे समावइज्जा मोसं वयणाए ।
—२।३।१५।२
११७. लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए ।
—२।३।१५।२
११८. अणुणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा ।
—२।३।१५।३
११९. नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे ।
—२।३।१५।४
१२०. न सक्का न सोउं सद्दा, सोतविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
—२।३।१५।१३१
१२१. नो सक्का रूवमद्दट्ठं, चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
—२।३।१५।१३२
१२२. न सक्का गंधमुग्धाउं, नासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
—२।३।१५।१३३
१२३. न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
—२।३।१५।१३४
१२४. न सक्का फासमवेएउ, फासविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
—२।३।१५।१३५
१२५. समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना न जस्सो य वड्ढइ ।
—२।४।१६।१४०



११५. जो विचारपूर्वक बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रथ है ।
११६. जो विचारपूर्वक नहीं बोलता है, उसका वचन कभी-न-कभी असत्य से दूषित हो सकता है ।
११७. लोभ का प्रसंग आने पर व्यक्ति असत्य का आश्रय ले लेता है ।
११८. जो गुरुजनों की अनुमति लिए बिना भोजन करता है, वह अदत्तभोजी है, अर्थात् एक प्रकार से चोरी का अन्न खाता है ।
११९. जो आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करता है, वही ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा निर्ग्रथ है ।
१२०. यह शक्य नहीं है, कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए ।
१२१. यह शक्य नहीं है, कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप देखा न जाए, अतः रूप का नहीं, किंतु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए ।
१२२. यह शक्य नहीं है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगंध या दुर्गंध सूँघने में न आएँ, अतः गंध का नहीं, किंतु गंध के प्रति जगने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए ।
१२३. यह शक्य नहीं है, कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए, अतः रस नहीं किंतु स्पर्श के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए ।
१२४. यह शक्य नहीं है, कि शरीर से स्पृष्ट होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नहीं, किंतु स्पर्श के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए ।
१२५. अग्नि-शिखा के समान प्रदीप्त एवं प्रकाशमान रहने वाले अन्तर्लिन साधक के तप, प्रज्ञा और यश निरन्तर बढ़ते रहते हैं ।



सूत्रकृतांग की सूक्तियाँ

१. बुज्जिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
--११११११
२. ममाइ लुप्पई बाले ।
--१११११४
३. तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ।
--१११११४
४. नो य उप्पज्जए असं ।
--१११११६
५. जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ।
--११११२१
६. असंकियाइ संकंति, संकिआइ असंकिणो ।
--१११२१०
७. अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ।
--१११२१७
८. अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धानुगच्छइ ।
--१११२१९
९. एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविंथा ।
दुक्खं ते नाइनुट्ठंति, सउणी पंजरं जहा ॥
--१११२२२

सूत्रकृतांग की सूक्तियाँ

१. सर्वप्रथम बन्धन को समझो और समझ कर फिर उसे तोड़ो ।
२. 'यह मेरा है, वह मेरा है'— इस ममत्व बुद्धि के कारण ही बाल-जीव विलुप्त होते हैं ।
३. परपीडा में लगे हुए अज्ञानी जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर जा रहे हैं ।
४. असत् कभी सत् नहीं होता ।
५. जो असत्य की प्ररूपणा करते हैं, वे संसार-सागर को पार नहीं कर सकते ।
६. मोहमूढ मनुष्य जहाँ वस्तुतः भय की आशंका है, वहाँ तो भय की आशंका करते नहीं हैं । और, जहाँ भय की आशंका जैसा कुछ नहीं है, वहाँ भय की आशंका करते हैं ।
७. जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता, वह दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है ?
८. अन्धा अन्धे का पथदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है ।
९. जो धर्म और अधर्म से सर्वथा अनजान व्यक्ति केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं, वे अपने कर्म बन्धन को तोड़ नहीं सकते, जैसे कि पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ पाता है ।

१०. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया ।
—१।१।२।२३
११. जहा अस्साविणि णावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छइ पारमागंतु, अंतरा य विसीयई ॥
—१।१।२।३१
१२. समुप्पायमजाणंता, कहां नायंति संवरं ?
—१।१।३।१०
१३. अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्जेण मुणि जावए ।
—१।१।४।२
१४. एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावन्तं वियाणिया ।
—१।१।४।१०
१५. संबुज्झह, किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइयो,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥
—१।२।१।१
१६. सेणो जहा वट्ठयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्ठई ।
—१।२।१।२
१७. नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
—१।२।१।३
१८. सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्ठयं ।
—१।२।१।४
१९. ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउखयंमि तुट्ठती ।
—१।२।१।६
२०. जइ वि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भुंजे मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भायणंतसो ॥
—१।२।१।९

१०. जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरों के मत की निंदा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं, वे एकान्तवादी संसार-चक्र में भटकते ही रहते हैं ।
११. अज्ञानी साधक उस जन्मांध व्यक्ति के समान है, जो सच्छिद्र नौका पर चढ़कर नदी किनारे पहुँचना तो चाहता है, किंतु किनारा आने से पहले ही बीच प्रवाह में डूब जाता है ।
१२. जो दुःखोत्पत्ति का कारण ही नहीं जानते, वे उसके निरोध का कारण कैसे जान पाएँगे ?
१३. अहंकार रहित एवं अनासक्त भाव से मुनि को राग-द्वेष के प्रसंगों में ठीक बीच से तटस्थ यात्रा करनी चाहिए ।
१४. ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करें । अहिंसा-मूलक समता ही धर्म का सार है, बस, इतनी बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए ।
१५. अभी इसी जीवन में समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो ? मरने के बाद परलोक में संबोधि का मिलना कठिन है ।
जैसे बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नहीं आता ।
१६. एक ही क्षपाटे में बाज जैसे बटेर को मार डालता है, वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी जीवन को हर लेता है ।
१७. मरने के बाद सद्गति सुलभ नहीं है । अतः जो कुछ सत्कर्म करना है, वह यही करो ।
१८. आत्मा अपने स्वयं के कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है । कृत कर्मों को भोगे बिना मुक्ति नहीं है ।
१९. जिस प्रकार ताल का फल वृन्त से टूट कर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयु क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है ।
२०. भले ही नग्न रहे, मास-मास का अनशन करे और शरीर को कृश एवं क्षीण कर डाले, किंतु जो अन्दर में दंभ रखता है, वह जन्म-मरण के अनंत चक्र में भटकता ही रहता है ।

२१. पलियंतं मणुआण जीवियं ।
—१।२।१।१०
२२. सउणी जह पंमुगुंडिया,
विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं,
कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥
—१।२।१।१५
२३. मोहं जंति नरा असंबुडा ।
—१।२।१।२०
२४. अहऽसेयकरी अन्नेसिं इंखिणी ।
—१।२।२।१
२५. तयसं व जहाइ से रयं ।
—१।२।२।२
२६. जो परिभवइ परं जम्पं संसारे परिवत्तई महं ।
—१।२।२।१
२७. महयं पलिगोवजाणिया,
जा वि य वंदणपूयणा इहं ॥
—१।२।२।११
२८. सुहुमे सल्ले दुहदुरे ।
—१।२।२।११
२९. सामाइयमाहु तस्स णं,
जो अप्पाण भए ण दंसए ।
—१।२।२।१७
३०. अट्ठे परिहायती बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ।
—१।२।२।१९
३१. वाले पापेहिं मिज्जति ।
—१।२।२।२१

२१. मनुष्यों का जीवन एक बहुत ही अल्प एवं सान्त जीवन है।
२२. मुमुक्षु तपस्वी अपने कृत कर्मों का बहुत शीघ्र ही अपनयन कर देता है, जैसे कि पक्षी अपने पंखों को फड़फड़ाकर उन पर लगी धूल को झाड़ देता है।
२३. इन्द्रियों के दास असंवृत्त मनुष्य हिताहितनिर्णय के क्षणों में मोह-मुग्ध हो जाते हैं।
२४. दूसरों की निन्दा हितकर नहीं है।
२५. जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार साधक अपने कर्मों के आवरण को उतार फेंकता है।
२६. जो दूसरों का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है, वह संसार वन में दीर्घकाल तक भटकता रहता है।
२७. साधक के लिए वंदन और पूजन एक बहुत ही बड़ी दलदल है।
२८. मन में रहे हुए विकारों के सूक्ष्म शल्य को निकालना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है।
२९. समभाव उसी को रह सकता है, जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है।
३०. बुद्धिमान को कभी किसी से कलह-झगड़ा नहीं करना चाहिए। कलह से बहुत बड़ी हानि होती है।
३१. अज्ञानी आत्मा पाप कर के भी उस पर अहंकार करता है।

३२. अत्तहियं खु दुहेण लब्भई ।
—१।२।२।३०
३३. मरणं हेच्च वयंति पंडिया ।
--१।२।३।१
३४. अदक्खु कामाईं रोगवं ।
—१।२।३।२
३५. नाइवहइ अबले विसीयति ।
—१।२।३।५
३६. कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्धं कण्हुई ।
—१।२।३।६
३७. मा पच्छ असाधुता भवे,
अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
—१।२।३।७
३८. न य संखयमाहु जीवियं ।
—१।२।३।१०
३९. एगस्स गती य आगती ।
—१।२।३।१७
४०. सव्वे सयकम्मकप्पिया ।
१।२।३।१८
४१. इणमेव खणं वियाणिया ।
—१।२।३।१९
४२. सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव जेयं न पस्सती ।
—१।३।१।१
४३. नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ।
—१।३।१।१६

३२. आत्महित का अवसर मुश्किल से मिलता है ।
३३. प्रबुद्ध साधक ही मृत्यु की सीमा को पार कर अजर-अमर होते हैं ।
३४. सच्चे साधक की दृष्टि में काम-भोग रोग के समान हैं ।
३५. निर्बल व्यक्ति भार वहन करने में असमर्थ होकर मार्ग में ही कहीं खिन्न होकर बैठ जाता है ।
३६. साधक सुखाभिलाषी होकर काम-भोगों की कामना न करे, प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त जैसा कर दे, अर्थात् उपलब्ध भोगों के प्रति भी निःस्पृह रहे ।
३७. भविष्य में तुम्हें कष्ट भोगना न पड़े, इसलिए अभी से अपने को विषय-वासना से दूर रखकर अनुशासित करो ।
३८. जीवन-सूत्र टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ पाता है ।
३९. आत्मा (परिवार आदि को छोड़ कर) परलोक में अकेला ही गमनागमन करता है ।
४०. सभी प्राणी अपने कृत कर्मों के कारण नाना योनियों में घ्रमण करते हैं ।
४१. जो क्षण वर्तमान में उपस्थित है, वही महत्त्वपूर्ण है, अतः उसे सफल बनाना चाहिए ।
४२. अपनी बड़ाई मारनेवाला क्षुद्रजन तभी तक अपने को शूरवीर मानता है, जब तक कि सामने अपने से बली विजेता को नहीं देखता है ।
४३. दुर्बल एवं अज्ञानी साधक कष्ट आ पड़ने पर अपने स्वजनों को वैसे ही याद करता है, जैसे कि लड़-झगड़ कर घर से भागी हुई स्त्री गुंडों या चोरों से प्रताड़ित होने पर अपने घर वालों को याद करती है ।

छत्तीस

सूक्ति त्रिवेणी

४४. तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ।

—१।३।२।२१

४५. नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झति ।

—१।३।३।१३

४६. कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ।

—१।३।३।२०

४७. मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं ।

—१।३।४।७

४८. जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।

—१।३।४।१५

४९. सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगं चरंति पासेणं ।

—१।४।१।८

५०. तम्हा उ वज्जए इत्थी,
विसलित्तं व कण्ठगं नच्चा ।

—१।४।१।११

५१. जहा कडं कम्म, तहासि भारे ।

१।५।१।२६

५२. एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ।

—१।५।२।२२

५३. जं जारिसं पुब्बमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।

—१।५।२।२३

५४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं

—१।६।२३

५५. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ।

—१।६।२३

४४. अज्ञानी साधक संकट काल में उसी प्रकार खेदखिन्न हो जाते हैं, जिस प्रकार बूढ़े बैल चढ़ाई के मार्ग में ।
४५. घाव को अधिक खुजलाना ठीक नहीं, क्योंकि खुजलाने से घाव अधिक फैलता है ।
४६. भिक्षु प्रसन्न व शान्त भाव से अपने रुग्ण साथी की परिषर्या करे ।
४७. सन्मार्ग का तिरस्कार करके तुम अल्प वैषयिक सुखों के लिए अनन्त मोक्षसुख का विनाश मत करो ।
४८. जो समय पर अपना कार्य कर लेते हैं, वे बाद में पछताते नहीं ।
४९. निर्भय अकेला विचरने वाला सिंह भी मांस के लोभ से जाल में फंस जाता है (वैसे ही आसक्तिवश मनुष्य भी) ।
५०. ब्रह्मचारी स्त्रीसंसर्ग को विषलिप्त कंटक के समान समझकर उससे बचता रहे ।
५१. जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग !
५२. आत्मा अकेला ही अपने किए हुए दुःख को भोगता है ।
५३. अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में उपस्थित होता है ।
५४. दानों में अभय दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है ।
५५. तपों में सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य ।

५६. सच्चैसु वा अणवज्जं वयंति ।

—१।६।२३

५७. सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ।

—१।७।११

५८. उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी,
सिज्जिसु पाणा बहवे दगंसि ।

—१।७।१४

५९. नो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

—१।७।२७

६०. दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा ।

—१।७।२९

६१. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।

—१।८।३

६२. आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया ।

—१।८।६

६३. पावोगहा हि आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ।

—१।८।७

६४. वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती ।

—१।८।७

६५. जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्जप्पेण समाहरे ।

—१।८।१६

६६. सातागारव णिहुए, उवसंतेऽणिहे चरे ।

—१।८।१८

६७. सादियं न मुसं बूया ।

—१।८।१९

५६. सत्य वचनों में भी अनवद्य सत्य (हिंसा-रहित सत्य वचन) श्रेष्ठ है ।
५७. प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है ।
५८. यदि जलस्पर्श (जलस्नान) से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, तो पानी में रहने वाले अनेक जीव कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते !
५९. तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।
६०. दुःख आ जाने पर भी मन पर संयम रखना चाहिए ।
६१. प्रमाद को कर्म-आश्रव और अप्रमाद को अकर्म-संवर कहा है ।
६२. कुछ लोग लोक और परलोक-दोनों ही दृष्टियों से असंयत होते हैं ।
६३. पापानुष्ठान अन्ततः दुःख ही देते हैं ।
६४. वैरवृत्ति वाला व्यक्ति जब देखो तब वैर ही करता रहता है । वह एक के बाद एक किए जाने वाले वैर को बढ़ाते रहने में ही रस लेता है ।
६५. कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अष्ट्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे ।
६६. साधक सुख-सुविधा की भावना से अनपेक्ष रहकर, उपशांत एवं दम्भरहित होकर विचरे ।
६७. मन में कपट रख कर झूठ न बोलो ।

६८. अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।
—१।८।२५
६९. ज्ञाणजोगं समाहट्ठु, कायं विउसेज्ज सव्वसो ।
—१।८।२६
७०. तित्तिक्खं परमं नच्चा ।
—१।८।२६
७१. परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसि पवड्ढई ।
—१।९।३
७२. अत्ते हरंति तं वित्तं, कम्मि कम्मेहि किच्चती ।
—१।९।४
७३. अणुच्चित्तिय वियागरे ।
—१।९।२५
७४. जं छन्नं तं न वत्तव्वं ।
—१।९।२६
७५. तुमं तुमंति अमणुत्तं, सव्वसो तं न वत्तए ।
—१।९।२७
७६. णातिवेलं हसे मुणी ।
—१।९।२९
७७. वुच्चमाणो न संजले ।
—१।९।३१
७८. सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे ।
—१।९।३१
७९. लद्धे कामे न पत्थेज्जा ।
—१।९।३२
८०. सव्वं जगं तू समयानुपेही,
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा ।
—१।१०।६

६८. सुव्रती साधक कम खाये, कम पीये, और कम बोले ।
६९. ध्यानयोग का अवलम्बन लेकर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए ।
७०. तितिक्षा को परम धर्म समझकर आचरण करो ।
७१. जो परिग्रह (संग्रह वृत्ति) में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते हैं ।
७२. यथावसर संचित धन को तो दूसरे उड़ा लेते हैं और संग्रही को अपने पापकर्मों का दुष्फल भोगना पड़ता है ।
७३. जो कुछ बोले—पहले विचार कर बोले ।
७४. किसी की कोई गोपनीय जैसी बात हो, तो नहीं कहना चाहिए ।
७५. 'तू-तू'—जैसे अभद्र शब्द कभी नहीं बोलने चाहिए ।
७६. मूनी को मर्यादा से अधिक नहीं हँसना चाहिए ।
७७. साधक को कोई दुर्वचन कहे, तो भी वह उस पर गरम न हो, क्रोध न करे ।
७८. साधक जो भी कष्ट हो, प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल न करे ।
७९. प्राप्त होने पर भी कामभोगों की अभ्यर्थना (स्वागत) न करे ।
८०. समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। अर्थात् समदर्शी अपने पराये की भेद-बुद्धि से परे होता है ।

८१. सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता,
दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥
- १११०१२०
८२. बालजणो पगब्भई ।
- १११११२
८३. न विरुज्जेज्ज केण वि ।
- १११११२२
८४. णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति,
ण चंदिमा वड्ढति हायती वा ।
- १११२१७
८५. जहा हि अंधे सह जोतिणावि,
रूवादि णो पस्सति हीणणत्ते ।
- १११२१८
८६. आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ।
- १११२१२१
८७. न कम्मणा कम्म खवेति बाला,
अकम्मणा कम्म खवेति धीरा ।
- १११२११५
८८. संतोसिणो नो पकरंति पावं ।
- १११२११५
८९. ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
- १११२११८
९०. अलमप्पणो होंति अलं परेसि ।
- १११२११९
९१. अन्नं जणं पस्सति बिबभूयं ।
- १११३१८
९२. अन्नं जणं खिसइ बालपन्ने ।
- १११३११४

८१. जिस प्रकार मृगशावक सिंह से डर कर दूर-दूर रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान धर्म को जानकर पाप से दूर रहे ।
८२. अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है ।
८३. किसी के भी साथ वैर विरोध न करो ।
८४. वस्तुतः सूर्य न उदय होता है, न अस्त होता है और चन्द्र भी न बढता है, न घटता है । यह सब दृष्टि ध्रम है ।
८५. जिस प्रकार अन्धा पुरुष प्रकाश के होते हुए भी नेत्रहीन होने के कारण रूपादि कुछ भी नहीं देख पाता है, इसी प्रकार प्रज्ञाहीन मनुष्य शास्त्र के समक्ष रहते हुए भी सत्य के दर्शन नहीं कर पाता ।
८६. ज्ञान और कर्म (विद्या एवं चरण) से ही मोक्ष प्राप्त होता है ।
८७. अज्ञानी मनुष्य कर्म (पापानुष्ठान) से कर्म का नाश नहीं कर पाते, किन्तु ज्ञानी पुरुष अकर्म (पापानुष्ठान के निरोध) से कर्म का क्षय कर देते हैं ।
८८. सन्तोषी साधक कभी कोई पाप नहीं करते ।
८९. तत्त्वदर्शी समग्र प्राणीजगत् को अपनी आत्मा के समान देखता है ।
९०. ज्ञानी आत्मा ही 'स्व' और 'पर' के कल्याण में समर्थ होता है ।
९१. अभिमानी अपने अहंकार में चूर होकर दूसरों को सदा बिम्बभूत (परछाई के समान तुच्छ) मानता है ।
९२. जो अपनी प्रज्ञा के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह मूर्खबुद्धि (बालप्रज्ञ) है ।

९३. जै छेयं से विप्पमायं न कुज्जा ।
—११४११
९४. कहं कहं वा वितिगिच्छतिण्णे ।
—११४१६
९५. सूरुदए पासति चक्खुणेव ।
—११४१३
९६. न यावि पत्ते परिहास कुज्जा ।
—११४१९
९७. नो छाए नो वि य लूसएज्जा ।
—११४१९
९८. नो तुच्छए नो य विकत्थइज्जा ।
—११४२१
९९. विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।
—११४२२
१००. निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा ।
—११४२३
१०१. नाइवेलं वएज्जा ।
—११४२५
१०२. से दिट्ठमं दिट्ठि न लूसएज्जा ।
—११४२५
१०३. भूएहिं न विरुज्जेज्जा ।
—११५१४
१०४. भावणाजोगमुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
—११५१५
१०५. तुट्ठंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वथो ।
—११५१६

९३. चतुर वही है, जो कभी प्रमाद न करे ।
९४. मुमुक्षु को कैसे-न-कैसे मन की विचिकित्सा से पार हो जाना चाहिए ।
९५. सूर्योदय होने पर (प्रकाश होने पर) भी आँख के बिना नहीं देखा जाता है, वैसे ही स्वयं में कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, निर्देशक गुरु के अभाव में तत्त्वदर्शन नहीं कर पाता ।
९६. बुद्धिमान किसी का उपहास नहीं करता ।
९७. उपदेशक सत्य को कभी छिपाए नहीं, और न ही उसे तोड़ मरोड़ कर उपस्थित करे ।
९८. साधक न किसी को तुच्छ-हल्का बताए और न किसी की झूठी प्रशंसा करे ।
९९. विचारशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद से युक्त वचन का प्रयोग करे ।
१००. थोड़े से में कही जाने वाली बात को व्यर्थ ही लम्बी न करे ।
१०१. साधक आवश्यकता से अधिक न बोले ।
१०२. सम्यग्दृष्टि साधक को सत्य दृष्टि का अपलाप नहीं करना चाहिए ।
१०३. किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध न बढ़ाएँ ।
१०४. जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग (निष्काम साधना) से शुद्ध है, वह जल में नौका के समान है, अर्थात् वह संसार सागर को तैर जाता है, उसमें डूबता नहीं है ।
१०५. जो नये कर्मों का बन्धन नहीं करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।

१०६. अकुव्वओ णवं णत्थि ।
—११५१७
१०७. अनुसासणं पुढो पाणी ।
—११५१११
१०८. से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए ।
—११५११४
१०९. इओ विद्धंसमाणस्स पुणो संबोही दुल्लभा ।
—११५११८
११०. अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं ।
—२१११९
१११. अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि ।
—२१११३
११२. अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति ।
—२१११३
११३. पत्तेयं जायति पत्तेयं मरइ ।
—२१११३
११४. णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा,
णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेजा ।
—२१११५
११५. अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा,
कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेजा ।
—२१११५
११६. सारदसलिलं व सुद्ध हियया,...
विहग इव विप्पमुक्का,...
वसुंधरा इव सब्ब फासविसहा ।
—२१२१३८
११७. धम्मेणं चेव विंत्ति कप्पेमाणा विहरंति ।
—२१२१३९
११८. अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु ।
—२१३१११



१०६. जो अन्दर में राग-द्वेष रूप-भाव कर्म नहीं करता, उसे नए कर्म का बंध नहीं होता ।
१०७. एक ही धर्मतत्त्व को प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप में ग्रहण करता है ।
१०८. जिसने कांक्षा-आसक्ति का अन्त कर दिया है, वह मनुष्यों के लिए पथप्रदर्शक चक्षु है ।
१०९. जो अज्ञान के कारण अब पथभ्रष्ट हो गया है, उसे फिर भविष्य में संबोधि मिलना कठिन है ।
११०. आत्मा और है, शरीर और है ।
१११. शब्द, रूप आदि काम-भोग (जड़पदार्थ) और हैं, मैं (आत्मा) और हूँ ।
११२. कोई किसी दूसरे के दुःख को बटा नहीं सकता ।
११३. हर प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है ।
११४. खाने-पीने की लालसा से किसी को धर्म का उपदेश नहीं करना चाहिए ।
११५. साधक बिना किसी भौतिक इच्छा के प्रशांतभाव से एक मात्र कर्म-निर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करे ।
११६. मुनि जनों का हृदय शरदकालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है । वे पक्षी की तरह बन्धनों से विप्रमुक्त और पृथ्वी की तरह समस्त सुख-दुःख को समभाव से सहन करने वाले होते हैं ।
११७. सद्गृहस्थ धर्मानुकूल ही आजीविका करते हैं ।
११८. नहीं देखने वालो ! तुम देखने वालों की बात पर विश्वास करके चलो ।



स्थानांग की सूक्तियां



१. एगे मरणे अंतिमसारीरियाणं ।
—१११३६
२. एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति ।
—१११३८
३. एगा धम्मपडिमा, जं से आया पज्जवजाए ।
—१११४०
४. जदत्थि णं लोगे, तं सव्वं दुपओआरं ।
—२११
५. दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव ।
—२११
६. दुविहे बंधे—पेज्जबंधे चेव दोसबंधे चेव ।
—२१४
७. किंभया पाणा ? ...
दुखभया पाणा ।
दुखे केण कडे ?
जीवेणं कडे पमाएणं !
—३१२

स्थानांग की सूक्तियां



१. मुक्त होने वाली आत्माओं का वर्तमान अन्तिम देह का मरण ही-- एक मरण होता है, और नहीं ।
२. एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाता है ।
३. एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है ।
४. विश्व में जो कुछ भी है, वह इन दो शब्दों में समाया हुआ है--चेतन और जड़ ।
५. धर्म के दो रूप हैं--श्रुत-धर्म = तत्त्वज्ञान, और चारित्र-धर्म = नैतिक आचार ।
६. बन्धन के दो प्रकार हैं--प्रेम का बन्धन और द्वेष का बन्धन ।
७. प्राणी किससे भय पाते हैं ?
दुःख से ।
दुःख किसने किया है ?
स्वयं आत्मा ने, अपनी ही भूल से ।

८. तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा

माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाति ।

—३१३

९. तओ दुस्सन्नप्पा - दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिते ।

—३१४

१०. चत्तारि सुता-

अतिजाते, अणुजाते,
अवजाते, कुलिगाले ।

—४११

११. चत्तारि फला-

आमे णामं एगे आममहुरे ।
आमे णामं एगे पक्कमहुरे ।
पक्के णामं एगे आममहुरे ।
पक्के णामं एगे पक्कमहुरे ।

—४११

१२. आवायभद्दए णामं एगे णो संवासभद्दए ।

संवासभद्दए णामं एगे णो आवायभद्दए ।

एगे आवायभद्दए वि, संवासभद्दए वि ।

एगे णो आवायभद्दए, णो संवासभद्दए ।

—४११

१३. अप्पणो णामं एगे वज्जं पासइ, णो परस्स ।

परस्स णामं एगे वज्जं पासइ, णो अप्पणो ।

एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि ।

एगे णो अप्पणो वज्जं पासइ, णो परस्स ।

—४११

१४. दीणे णामं एगे णो दीणमणे ।

दीणे णामं एगे णो दीणसंकप्पे ।

—४१२

८. देवता भी तीन बातों की इच्छा करते रहते हैं—
मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र में जन्म, और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति ।
९. दुष्ट को, मूर्ख को, और बहके हुए को प्रतिबोध देना—समझा पाना, बहुत कठिन है ।
१०. कुछ पुत्र गणों की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते हैं । कुछ पिता के समान होते हैं और कुछ पिता से हीन । कुछ पुत्र कुल का सर्वनाश करने वाले—कुलांगार होते हैं ।
११. कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते हैं ।
कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं ।
कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते हैं ।
और कुछ फल पके होने पर भी अति मधुर होते हैं ।
फल की तरह मनुष्य के भी चार प्रकार होते हैं—
लघुवय में साधारण समझदार । लघुवय में बड़ी उम्रवालों की तरह समझदार । बड़ी उम्र में भी कम समझदार । बड़ी उम्र में पूर्ण समझदार ।
१२. कुछ व्यक्तियों की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता ।
कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नहीं ।
कुछ एक की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी ।
कुछ एक का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही ।
१३. कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरों का नहीं ।
कुछ दूसरों का दोष देखते हैं, अपना नहीं ।
कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरों का भी ।
कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरों का ।
१४. कुछ व्यक्ति शरीर व धन आदि से दीन होते हैं । किन्तु, उनका मन और संकल्प बड़ा उदार होता है ।

१५. चउव्विहे संजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे ।
—४१२
१६. पव्वयराइसमाणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
—४१२
१७. सेलथंभसमाणं माणं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
—४१२
१८. वंसीमूलकेतणासमाणं मायं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
—४१२
१९. किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
—४१२
२०. इह लोगे सुचिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।
—४१२
२१. चत्तारि पुष्पा—
रूवसंपन्ने णामं एगे णो गंधसंपन्ने ।
गंधसंपन्ने णामं एगे नो रूवसंपन्ने ।
एगे रूवसंपन्ने वि गंधसंपन्ने वि ।
एगे णो रूवसंपन्ने णो गंधसंपन्ने ।
एवमेव चत्तारि पुरिसजाया ।
—४१३
२२. अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे ।
माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे ।
एगे अट्ठ करे वि माणकरे वि ।
एगे णो अट्ठ करे, णो माणकरे ।
—४१३

१५. संयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का संयम, शरीर का संयम और उपधि—सामग्री का संयम ।
१६. पर्वत की कतार के समान जीवन में कभी नहीं मिटने वाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।
१७. पत्थर के खंभे के समान जीवन में कभी नहीं झुकने वाला अहंकार आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।
१८. बांस की जड़ के समान अतिनिविड—गांठदार दंभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।
१९. क्रुमिराग अर्थात् मजीठ के रंग के समान जीवन में कभी नहीं छूटने वाला लोभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है ।
२०. इस जीवन में किए हुए सत् कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते हैं । इस जीवन में किए हुए सत्कर्म अगले जीवन में भी सुखदायी होते हैं ।
२१. फूल चार तरह के होते हैं—
 सुन्दर, किन्तु गंधहीन ।
 गंधयुक्त, किन्तु सौन्दर्यहीन ।
 सुन्दर भी, सुगंधित भी ।
 न सुन्दर, न गंधयुक्त ।
 फूल के समान मनुष्य भी चार तरह के होते हैं ।
 (भौतिक संपत्ति सौन्दर्य है तो आध्यात्मिक सम्पत्ति सुगंध है ।)
२२. कुछ व्यक्ति सेवा आदि महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, किन्तु उसका अभिमान नहीं करते ।
 कुछ अभिमान करते हैं, किन्तु कार्य नहीं करते ।
 कुछ कार्य भी करते हैं, अभिमान भी करते हैं ।
 कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान ही करते हैं ।

२३. चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसितपाहुडे, माई ।
—४१३
२४. सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताते विहरइ
सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ ।
सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ ।
सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ ।
—४१३
२५. सएणं लाभेणं तुस्सइ
परस्स लाभं णो आसाएइ....
दोच्चा सुहसेज्जा ।
—४१३
२६. चत्तारि समणोवासगा—
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे ।
खाणुसमाणे, खरकंटसमाणे ।
—४१३
२७. अप्पणो णामं एगे पत्तियं करेइ, णो परस्स ।
परस्स णामं एगे पत्तियं करेइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्स वि ।
एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ, णो परस्स ।
—४१३
२८. तमे णामं एगे जोई ।
जोई णामं एगे तमे ।
—४१३
२९. गज्जित्ता णामं एगे णो वासित्ता ।
वासित्ता णामं एगे णो गज्जित्ता ।

२३. चार व्यक्ति शास्त्राध्ययन के योग्य नहीं हैं—
अविनीत, चटौरा, झगडालू और धूर्त ।
२४. कुछ साधक सिंह वृत्ति से साधना पथ पर आते हैं, और सिंहवृत्ति से ही रहते हैं ।
कुछ सिंह वृत्ति से आते हैं, किंतु बाद में शृगाल वृत्ति अपना लेते हैं ।
कुछ शृगाल वृत्ति से आते हैं, किंतु बाद में सिंह वृत्ति अपना लेते हैं ।
कुछ शृगाल वृत्ति लिए आते हैं और शृगाल वृत्ति से ही चलते रहते हैं ।
२९. जो अपने प्राप्त हुए लाभ में संतुष्ट रहता है, और दूसरों के लाभ की इच्छा नहीं रखता, वह सुखपूर्वक सोता है (वह सुख-शय्या का दूसरा पहलू है)।
२६. श्रमणोपासक की चार कोटियाँ हैं—
दर्पण के समान—स्वच्छ हृदय ।
पताका के समान—अस्थिर हृदय ।
स्थाणु के समान—मिथ्याग्रही ।
तीक्ष्ण कंटक के समान—कटुभाषी ।
२७. कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरों का नहीं ।
कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरों का भला करते हैं ।
कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरों का भी ।
और कुछ न अपना भला करते हैं और न दूसरों का ।
२८. कभी-कभी अन्धकार (अज्ञानी मनुष्य में) में से भी ज्योति (सदाचार का प्रकाश) जल उठती है ।
और कभी-कभी ज्योति पर (ज्ञानी हृदय पर) भी अन्धकार (दुराचार) हावी हो जाता है ।
२९. मेघ की तरह दानी भी चार प्रकार के होते हैं—
कुछ बोलते हैं, देते नहीं ।
कुछ देते हैं, किंतु कभी बोलते नहीं ।

एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता ।

—४१४

३०. चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा—
कोहेणं, पडिनिवेसेणं,
अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिणिदेसेणं ।

—४१४

३१. चत्तारि धम्मदारा—
खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

—४१४

३२. देवे णाममेगे देवीए सद्धि संवासं गच्छति ।
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धि संवासं गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धि संवासं गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धि संवासं गच्छति ।

—४१४

३३. चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्मं पगरेंति—
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए ।
अलियवयणेणं, कूडतुला कूडमाणेणं ।

—४१४

३४. चउहिं ठाणेहिं जीवा माणुसत्ताए कम्मं पगरेंति—
पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए ।

—४१४

३५. मधुकुंभे नामं एगे मधुपिहाणे ।
मधुकुंभे नामं एगे विसपिहाणे ।
विसकुंभे नामं एगे विसपिहाणे ।
विसकुंभे नामं एगे विसपिहाणे ।

—४१४

कुछ बोलते भी हैं, और देते भी हैं।
और कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

३०. क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या आग्रह—इन चार दुर्गुणों के कारण मनुष्य के विद्यमान गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

३१. क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता—ये चार कर्म के द्वार हैं।

३२. चार प्रकार के सहवास हैं—

देव का देवी के साथ—शिष्ट भद्र पुरुष, सुशीला भद्र नारी।
देव का राक्षसी के साथ—शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी,
राक्षस का देवी के साथ—दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी,
राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।

३३. कपट, धूर्तता, असत्य वचन और कूट तुलामान (खोटे तोल माप करना)
—ये चार प्रकार के व्यवहार पशुकर्म हैं, इनसे आत्मा पशुयोनि (तियंच-
गति) में जाता है।

३४. सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता—ये चार प्रकार
के व्यवहार मानवीय कर्म हैं, इनसे आत्मा मानव जन्म प्राप्त करता है।

३५. चार तरह के घड़े होते हैं—

मधु का घड़ा, मधु का ढक्कन।
मधु का घड़ा, विष का ढक्कन।
विष का घड़ा, मधु का ढक्कन।
विष का घड़ा, विष का ढक्कन।

[मानव पक्ष में हृदय घट है और वचन ढक्कन]

३६. हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे ॥
—४१४
३७. हिययमपावमकलुसं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे ॥
—४१४
३८. जं हिययं कलुसमयं, जीहावि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसकुंभे महुपिहाणे ॥
—४१४
३९. जं हिययं कलुसमयं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसंमि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥
—४१४
४०. समुहं तरामीतेगे समुहं तरइ ।
समुहं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ ।
गोप्पयं तरामीतेगे समुहं तरइ ।
गोप्पयं तरामीतेगे गोप्पयं तरइ ।
—४१४
४१. सब्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ।
—६११
४२. इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसित वयणे,
फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवितं वा पुणो उदीरित्तए ।
—६१३
४३. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू ।
—६१३

३६. जिसका अन्तर्-हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है ।
३७. जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है, किंतु वाणी से कटु एवं कठोर भाषी है, वह मनुष्य मधु के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है ।
३८. जिसका हृदय कलुषित और दंभ युक्त है, किंतु वाणी से मीठा बोलता है, वह मनुष्य विष के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है ।
३९. जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदा कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर विष के ढक्कन समान है ।
४०. कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं, और समुद्र तैरने जैसा ही महान कार्य भी करते हैं ।
कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं, किंतु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं ।
कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं । कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं ।
४१. भगवान ने सर्वत्र निष्कामता (अनिदानता) को श्रेष्ठ बताया है ।
४२. छह तरह के छः वचन नहीं बोलने चाहिए—
असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़कते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मनुष्यों की तरह अविचारपूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन ।
४३. वाचालता सत्य वचन का विघात करती है ।

४४. इच्छालोभिते मुक्तिमग्गस्स पल्लिमंथू ।
—६३
४५. सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढं सुसमं जाणेज्जा—
अकाले न वरिसइ, काले वरिसइ,
असाधू ण पुज्जंति, साधू पुज्जंति,
गुरुहिं जणो सम्मं पडिवन्नो,
मणो सुहता, वइ सुहता ।
—७
४६. एगमवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेजा
अत्थि तस्स आराहणा ।
—८
४७. असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।
—८
४८. सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए उवधारणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।
—८
४९. असंगिहीयपरिजणस्स संगिण्हणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।
—८
५०. गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।
—८
५१. णो पाणभोयणस्स अत्तिमत्तं आहारए सया भवई ।
—९
५२. नो सिलोगाणुवाई,
नो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ।
—९

४४. लोभ मुक्तिमार्ग का बाधक है ।
४५. इन सात बातों से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है—
 असमय पर न बरसना, समय पर बरसना,
 असाधुजनों का महत्व न बढ़ना, साधुजनों का महत्व बढ़ना,
 माता पिता आदि गुरुजनों के प्रति सद्ब्यवहार होना,
 मन की शुभता, और वचन की शुभता ।
४६. जो प्रमादवश हुए कपटाचरण के प्रति पश्चात्ताप (आलोचना) करके सरल-
 हृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है ।
४७. अभी तक नहीं सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।
४८. सुने हुए धर्म को ग्रहण करने—उस पर आचरण करने को तत्पर रहना
 चाहिए ।
४९. जो अनाश्रित एवं असहाय हैं, उनको सहयोग तथा आश्रय देने में सदा
 तत्पर रहना चाहिए ।
५०. रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।
५१. ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन-पान नहीं करना चाहिए ।
५२. साधक कभी भी यश, प्रशंसा और दैहिक सुखों के पीछे पागल न बने ।

५३. नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया—
 अच्चासणाए,
 अहियासणाए,
 अइनिहाए,
 अइजागरिएण,
 उच्चारनिरोहेणं,
 पासवणनिरोहेणं,
 अद्धाणगमणेणं,
 भोयणपडिकूलयाए,
 इंदियत्थ-विकोवणयाए ।

—९

५४. ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सति वा
 जं जीवा अजीवा भविस्संति,
 अजीवा वा जीवा भविस्संति ।

—१०



५३. रोग होने के नौ कारण हैं—

अति भोजन
अहित भोजन,
अतिनिद्रा,
अति जागरण,
मल के वेग को रोकना,
मूत्र के वेग को रोकना,
अधिक भ्रमण करना,
प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना,
अति विषय सेवन करना ।

५४. न ऐसा कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा ही कि जो चेतन हैं, वे कभी अचेतन—जड़ हो जाएँ, और जो जड़-अचेतन हैं, वे कभी चेतन हो जाएँ ।



भगवती सूत्र की सूक्तियाँ



१. जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं
नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव-अणारंभा ।
—१११
२. इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे,
तदुभयभविए वि नाणे ।
—१११
३. अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ।
—११३
४. अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ ।
—११३
५. अजीवा जीवपइट्ठया,
जीवा कम्मपइट्ठया ।
—११६
६. स वीरिए परायिणति अवीरिए परायिज्जति ।
—११८

भगवती सूत्र की सूक्तियाँ

१. आत्म-साधना में अप्रमत्त रहने वाले साधक, न अपनी हिंसा करते हैं, न दूसरों की, वे सर्वथा अनारंभ—अहिंसक रहते हैं ।
२. ज्ञान का प्रकाश इस जन्म में रहता है, पर-जन्म में रहता है, और कभी दोनों जन्मों में भी रहता है ।
३. अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है, अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदा असत् ।
४. आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गह्रा—आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मों का संवर—आश्रव का निरोध करता है ।
५. अजीव-जड पदार्थ जीव के आधार पर रहे हुए हैं, और जीव (संसारी प्राणी) कर्म के आधार पर रहे हुए हैं ।
६. शक्तिशाली (वीर्यवान्) जीतता है और शक्तिहीन (निर्वीर्य) पराजित हो जाता है ।

...५

७. आया णे अज्जो ! सामाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।
—११९
८. गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे ।
—११९
९. अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ।
—११९
१०. करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा ।
—११०
११. सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥
—२१५
१२. जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति, अवट्ठया ।
—५१८
१३. नेरइयाणं णो उज्जोए, अंधयारे ।
—५१९
१४. जीवे ताव नियमा जीवे,
जीवे वि नियमा जीवे ।
—६१०
१५. समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ ।
—७११
१६. दुक्खी दुक्खेणं फुडे,
नो अदुक्खी दुक्खेणं फुडे ।
—७११

७. हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक (समत्वभाव) है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है।
(इस प्रकार गुण-गुणी में भेद नहीं, अभेद है।)
८. गर्हा (आत्मालोचन) संयम है, अगर्हा संयम नहीं है।
९. अस्थिर बदलता है, स्थिर नहीं बदलता।
अस्थिर टूट जाता है, स्थिर नहीं टूटता।
१०. कोई भी क्रिया किए जाने पर ही दुःख का हेतु होती है, न किए जाने पर नहीं।
११. सत्संग से धर्मश्रवण, धर्मश्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से विज्ञान = विशिष्ट तत्त्वबोध, विज्ञान से प्रत्याख्यान—सांसारिक पदार्थों से विरक्ति, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनाश्रव = नवीन कर्म का अभाव, अनाश्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता = सर्वथा कर्मरहित स्थिति और निष्कर्मता से सिद्धि—मुक्त-स्थिति, प्राप्त होती है।
१२. जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं, किन्तु सदा अवस्थित रहते हैं।
१३. नारक जीवों को प्रकाश नहीं, अंधकार ही रहता है।
१४. जो जीव है, वह निश्चित रूप से चैतन्य है,
और जो चैतन्य है, वह निश्चित रूप से जीव है।
१५. समाधि (सुख) देने वाला समाधि पाता है।
१६. जो दुःखित=कर्मबद्ध है, वही दुःख=बन्धन को पाता है,
जो दुःखित=बद्ध नहीं है, वह दुःख = बन्धन को नहीं पाता।

१७. अहासुत्तं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ ।
उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ ।
—७११
१८. जीवा सिय सासया, सिय असासया ।
... दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया ।
—७१२
१९. भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे
महापज्जवसाणे भवइ ।
—७१७
२०. हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ।
—७१८
२१. जीवियास-मरण-भयविप्पमुक्का ।
—८१७
२२. एगं अन्नयरं तसं पाणं हणमाणे
अणगे जीवे हणइ ।
—९१३४
२३. एगं इंसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ ।
—९१३४
२४. अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू ।
—१२१२
२५. अत्थेगइयाणं जीवाणं बलियत्तं साहू,
अत्थेगइयाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू ।
—१२१२
२६. नत्थि केइ परमाणुपोगलमेत्ते वि पएसे,
जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा वि ।
—१२१७

१७. सिद्धान्तानुकूल प्रवृत्ति करने वाला साधक ऐर्यापथिक (अल्पकालिक) क्रिया का बंध करता है। सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला सांपरायिक (चिरकालिक) क्रिया का बंध करता है।
१८. जीव शाश्वत भी हैं, अशाश्वत भी।
द्रव्यदृष्टि (मूल स्वरूप) से शाश्वत है, तथा भावदृष्टि (मनुष्यादि पर्याय) से अशाश्वत।
१९. भोग-समर्थ होते हुए भी, जो भोगों का परित्याग करता है, वह कर्मों की महान निर्जरा करता है, उसे मुक्तिरूप महाफल प्राप्त होता है।
२०. आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ—दोनों में आत्मा एक समान है।
२१. सच्चे साधक जीवन की आशा और मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त होते हैं।
२२. एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबंधित अनेक जीवों की हिंसा करता है।
२३. एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनंत जीवों की हिंसा करने वाला होता है।
२४. अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना।
२५. धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान होना अच्छा है और धर्महीन आत्माओं का दुर्बल रहना।
२६. इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।

२७. मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ ।
—१३१९
२८. जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जंति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।
—१६१२
२९. नेरइया सुत्ता, नो जागरा ।
—१६१२
३०. अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे
—१७१५
३१. जं मे तव-नियम-संजम-सज्जाय-झाणा-
ऽवस्सयमादीएसु जोगेसु जयणा, से तं जत्ता ।
—१९११०



२७. जिसके अन्तर में माया का अंश है, वही विकुर्वणा (नाना रूपों का प्रदर्शन) करता है । अमायी—(सरल आत्मा वाला) प्रदर्शन नहीं करता ।
२८. आत्माओं के कर्म चेतनाकृत होते हैं, अचेतना कृत नहीं ।
२९. आत्मजागरण की दृष्टि से नारक जीव सुप्त रहते हैं, जागते नहीं ।
३०. आत्मा का दुःख स्वकृत है, अपना किया हुआ है, परकृत अर्थात् किसी अन्य का किया हुआ नहीं है ।
३१. तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगों में जो यतना-विवेक युक्त प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा है ।



प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियाँ



१. अट्ठा हणति, अणट्ठा हणन्ति ।
—१११
२. कुद्धा हणति, लुद्धा हणति, मुद्धा हणति ।
—१११
३. न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो ।
—१११
४. पाणवहो चंडो, रुद्धो, खुद्धो, अणारियो,
निग्घणो, निसंसो, महब्भयो. . . .
—१११
५. अलियवयणं...
अयसकरं, वेरकरं, ... मणसंकिलेसवियरणं ।
—११२
६. सरीरं सादियं सनिधणं ।
—११२
७. असंतगुणुदीरका य संतगुणनासका य ।
—११२

प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियाँ

१. कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं और कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा करते हैं।
२. कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते हैं।
३. हिंसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।
४. प्राणवध (हिंसा) चण्ड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनायं है, करुणारहित है, क्रूर है, और महाभयंकर है।
५. असत्य वचन बोलने से बदनामी होती है, परस्पर वैर बढ़ता है, और मन में संक्लेश की वृद्धि होती है।
६. शरीर का आदि भी है, और अन्त भी है।
७. असत्यभाषी लोग गुणहीन के लिए गुणों का बखान करते हैं और गुणी के वास्तविक गुणों का अपसाप करते हैं।

८. अदत्तादाणं ... अकित्तिकरणं, अणज्जं ... सया साहुगरहणिज्जं ।
—११३
९. उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं ।
—११४
१०. इहलोए ताव नट्ठा, परलोए वि य नट्ठा ।
—११४
११. लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो,
चिंतासयनिचियविपुलसालो ।
—११५
१२. देवा वि सइंदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभंति ।
—११५
१३. नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि
सव्वजीवाणं सव्वलोए ।
—११५
१४. अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरो ।
—२११
१५. सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निंदियव्वा ।
—२११
१६. न कया वि मणेण पावएणं पावगं किंचिवि ज्ञायव्वं ।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं ।
—२११
१७. भगवती अहिंसा ... भीयाणं विव सरणं ।
—२११
१८. सच्चं ... पभासकं भवति सव्वभावाणं ।
—२१२
१९. तं सच्चं भगवं ।
—२१२

८. अदत्तादान (चोरी) अपयश करनेवाला अनार्य कर्म है। यह सभी भले आदमियों द्वारा सदैव निंदनीय है।
९. अच्छे से अच्छे सुखोपभोग करने वाले देवता और चक्रवर्ती आदि भी अन्त में काम-भोगों से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।
१०. विषयासक्त इस लोक में भी नष्ट होते हैं और पर-लोक में भी।
११. परिग्रह रूप वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय। चिता रूपी सैकड़ों ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं।
१२. देवता और इन्द्र भी न (भोगों से) कभी तृप्त होते हैं और न सन्तुष्ट।
१३. समूचे संसार में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बन्धन नहीं है।
१४. अहिंसा, त्रस और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियों का कुशल क्षेम करने वाली है।
१५. विश्व के किसी भी प्राणी की न अबहेलना करनी चाहिए और न निन्दा।
१६. मन से कभी भी बुरा नहीं सोचना चाहिए।
वचन से कभी भी बुरा नहीं बोलना चाहिए।
१७. जैसे भयाक्रान्त के लिए शरण की प्राप्ति हितकर है, प्राणियों के लिए वैसे ही, अपितु इससे भी विशिष्टतर भगवती अहिंसा हितकर है।
१८. सत्य—समस्त भावों-विषयों का प्रकाश करने वाला है।
१९. सत्य ही भगवान है।

२०. सच्चं ... लोगम्मि सारभूयं,
... गंभीरतरं महासमुद्दाओ ।
—२१२
२१. सच्चं ... सोमतरं चंदमंडलाओ,
दित्तरं सूरमंडलाओ ।
—२१२
२२. सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च ।
—२१२
२३. सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं किचि वि न वत्तव्वं ।
—२१२
२४. अप्पणो थवणा, परेसु निदा ।
—२१२
२५. कुद्धो ... सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज ।
—२१२
२६. लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं ।
—२१२
२७. ण भाइयव्वं, भीतं खु भया अइति लहुयं ।
२१२
२८. भीतो अबितिज्जओ मणुस्सो ।
२१२
२९. भीतो भूतेहिं धिप्पइ ।
२१२
३०. भीतो अन्नं पि हु भेसेज्जा ।
२१२
३१. भीतो तवसंजमं पि हु मुएज्जा ।
भीतो य भरं न नित्थरेज्जा ।
—२१२

२०. संसार में 'सत्य' ही सारभूत है ।
सत्य महासमुद्र से भी अधिक गंभीर है ।
२१. सत्य, चंद्र मंडल से भी अधिक सौम्य है ।
सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है ।
२२. ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए, जो हित, भित और ग्राह्य हो ।
२३. सत्य भी यदि संयम का घातक हो, तो नहीं बोलना चाहिए ।
२४. अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा भी असत्य के ही समकक्ष है ।
२५. क्रोध में अन्धा हुआ व्यक्ति सत्य, शील और विनय का नाश कर डालता है ।
२६. मनुष्य लोभग्रस्त होकर झूठ बोलता है ।
२७. भय से डरना नहीं चाहिए । भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते हैं ।
२८. भयभीत मनुष्य किसी का सहायक नहीं हो सकता ।
२९. भयाकुल व्यक्ति ही भूतों का शिकार होता है ।
३०. स्वयं डरा हुआ व्यक्ति दूसरों को भी डरा देता है ।
३१. भयभीत व्यक्ति तप और संयम की साधना छोड़ बैठता है ।
भयभीत किसी भी गुरुतर दायित्व को नहीं निभा सकता है ।

३२. न भाइयव्वं भयस्स वा, वाहिस्स वा,
रोगस्स वा, जराए वा, मच्चुस्स वा ।
—२१६
३३. असंविभागी, असंगहरुई...अप्पमाणभोई...
से तारिसए नाराहए वयमिणं ।
—२१३
३४. संविभागसीले संगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिणं ।
—२१३
३५. अणुन्नविय गेण्हियव्वं ।
—२१३
३६. अपरिग्गहसंबुडेणं लोगंमि विहरियव्वं ।
—२१३
३७. एगे चरेज्ज धम्मं ।
—२१३
३८. विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो ।
—२१३
३९. बंभचेरं उत्तमतव-नियम-णाण-दंसण-
चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं ।
—२१४
४०. जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं भग्गं...
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं... ।
—२१४
४१. अणेगा गुणा अहीणा भवन्ति एककंमि बंभचेरे ।
—२१४

३२. आकस्मिक भय से, व्याधि (मन्दघातक, कुष्ठादि रोग) से, रोग (शीघ्र घातक हैजा आदि) से, और तो क्या, मृत्यु से भी कभी डरना नहीं चाहिए।
३३. जो असंविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण नहीं करता है, असंग्रहरुचि है—साथियों के लिए समय पर उचित सामग्री का संग्रह कर रखने में रुचि नहीं रखता है, अप्रमाण भोजी है—मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला पेटू है, वह अस्तेयव्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता।
३४. जो संविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण करता है, संग्रह और उपग्रह में कुशल है—साथियों के लिए यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने में दक्ष है, वही अस्तेयव्रत की सम्यक्-आराधना कर सकता है।
३५. दूसरे की कोई भी चीज हो, आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए।
३६. अपने को अपरिग्रह भावना से संवृत कर लोक में विचरण करना चाहिए।
३७. भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए।
३८. विनय स्वयं एक तप है और वह आभ्यंतर तप होने से श्रेष्ठ धर्म है।
३९. ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।
४०. एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते हैं।
४१. एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वयं प्राप्त (अधीन) हो जाते हैं।

४२. दाणाणं चैव अभयदाणं ।

२१४

४३. स एव भिक्खू, जो सुद्धं चरति बंभचेरं ।

२१४

४४. तहा भोत्तव्वं जहा से जाया माता य भवति,
न य भवति विव्वमो, न भंसणा य धम्मस्स ।

२१४

४५. समे य जे सब्बपाणभूतेसु, से हु समणे ।

२१५

४६. पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे...
आगासं चैव निरवलंबे...।

२१५



४२. सब दानों में 'अभयदान' श्रेष्ठ है ।
४३. जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वस्तुतः वही भिक्षु है ।
४४. ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एवं संयमयात्रा के लिए उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रंसना ।
४५. जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वस्तुतः वही श्रमण है ।
४६. साधक को कमलपत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिए ।



वशावेकालिक की सूक्तियाँ

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं; अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मो सया मणो ॥ —१११
२. विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया । —११२
३. वर्यं च विस्ति लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ । —११४
४. महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया । —११५
५. कहं नु कुज्जा सामणं, जो कामे न निवारए । —२११
६. अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ । —२१२
७. जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥ —२१३

दशवैकालिक की सूक्तियाँ



१. धर्म श्रेष्ठ मंगल है। अहिंसा, संयम और तप—धर्म के तीन रूप हैं। जिसका मन—(विश्वास) धर्म में स्थिर है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।
२. ध्रमण—भिक्षु गृहस्थ से उसी प्रकार दानस्वरूप भिक्षा आदि ले; जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पों से रस लेता है।
३. हम जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की इस प्रकार पूर्ति करें कि किसी को कुछ कष्ट न हो।
४. आत्मद्रष्टा साधक मधुकर के समान होते हैं, वे कहीं किसी एक व्यक्ति या वस्तु पर प्रतिबद्ध नहीं होते। जहाँ रस (गुण) मिलता है, वहीं से ग्रहण कर लेते हैं।
५. वह साधना कैसे कर पाएगा, जो कि अपनी कामनाओं—इच्छाओं को रोक नहीं पाता ?
६. जो पराधीनता के कारण विषयों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता।
७. जो मनोहर और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

८. कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं ।
—२१५
९. वतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।
—२१७
१०. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बन्धइ ॥
—४१८
११. पढमं नाणं तओ दया ।
—४१०
१२. अस्सणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं ?
—४१०
१३. जं सेयं तं समायरे ।
—४११
१४. जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाही संवरं ?
—४१२
१५. दवदवस्स न गच्छेज्जा ।
—५१११४
१६. हसंतो नाभिगच्छेज्जा ।
—५१११४
१७. संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।
—५१११६
१८. असंमत्तं पलोइज्जा ।
—५११२३
१९. उप्फुल्लं न विणिज्जाए ।
—५११२३

८. कामनाओं को दूर करना ही दुःखों को दूर करना है ।
९. वमन किए हुए (त्यक्त विषयों) को फिर से पीना (पाना) चाहते हो ? इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है ।
१०. चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना, भोजन करना और बोलना आदि प्रवृत्तियाँ यतनापूर्वक करते हुए साधक को पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता ।
११. पहले ज्ञान होना चाहिए और फिर तदनुसार दया—अर्थात् आचरण ।
१२. अज्ञानी आत्मा क्या करेगा ? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगा ?
१३. जो श्रेय (हितकर) हो, उसी का आचरण करना चाहिए ।
१४. जो न जीव (चैतन्य) को जानता है और न अजीव (जड़) को, वह संयम को कैसे जान पाएगा ?
१५. मार्ग में जल्दी-जल्दी—ताबड़-तोबड़ नहीं चलना चाहिए ।
१६. मार्ग में हँसते हुए नहीं चलना चाहिए ।
१७. जहाँ भी कहीं क्लेश की संभावना हो उस स्थान से दूर रहना चाहिए ।
१८. किसी भी वस्तु को ललचाई आँखों से (आसक्ति पूर्वक) न देखे ।
१९. आँखें फाड़ते हुए, (घूरते हुए) नहीं देखना चाहिए ।

छियासी	सूक्ति त्रिवेणी
२०. निअट्टिज्ज अयंपिरो ।	—५११२३
२१. अकप्पियं न गिण्हज्जा ।	—५११२७
२२. छंदं से पडिलेहए ।	—५११३७
२३. महुघयं व भुंजिज्ज संजए ।	—५११९७
२४. उप्पणं नाइहीलिज्जा ।	—५११९९
२५. मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइं ।	—५१११००
२६. काले कालं समायरे ।	—५१२१४
२७. अलाभोत्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए ।	—५१२१६
२८. अदीणो वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पंडिए ।	—५१२१८
२९. पूयणट्ठा जसोकामी, माणसंमाणकामए । बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ।	—५१२३७
३०. अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ।	—५१२५१
३१. अहिंसा निउणा विट्ठा, सब्वभूएसु संजमो ।	—६१९

२०. किसी के यहाँ अपना अभीष्ट काम न बन पाए, तो बिना कुछ बोले (झगड़ा किए) शांत भाव से लौट आना चाहिए।
२१. अयोग्य वस्तु, कौसी भी क्यों न हो, स्वीकार नहीं करना चाहिए।
२२. व्यक्ति के अन्तर्मन को परखना चाहिए।
२३. सरस या नीरस—जैसा भी आहार मिले, साधक उसे 'मधु-वृत' की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।
२४. समय पर प्राप्त उचित वस्तु की गवहेलना न कीजिए।
२५. मुधादायी—निष्कामभाव से दान देने वाला, और मुधाजीवी—निस्पृह होकर साधनामय जीवन जीने वाला—दोनों ही सद्गति प्राप्त करते हैं।
२६. जिस काल (समय) में जो कार्य करने का हो, उस काल में वही कार्य करना चाहिए।
२७. भिक्षु को यदि कभी मर्यादानुकूल शुद्ध भिक्षा न मिले, तो खेद न करे, अपितु यह मानकर अलाभ परीषद् को सहन करे कि अच्छा हुआ, आज सहज ही तप का अवसर मिल गया।
२८. आत्मविद् साधक अदीन भाव से जीवन यात्रा करता रहे। किसी भी स्थिति में मन में खिन्नता न आने दे।
२९. जो साधक पूजा—प्रतिष्ठा के फेर में पड़ा है, यश का भूखा है, मान सम्मान के पीछे दौड़ता है—वह उनके लिए अनेक प्रकार के दंभ रचता हुआ अत्यधिक पाप कर्म करता है।
३०. आत्मविद् साधक जणुमान भी माया-मुषा (दंभ और असत्य) का सेवन न करे।
३१. सब प्राणियों के प्रति स्वयं को संवत रखावा—वही अहिंसा का पूर्ण दर्शन है।

३२. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
—६१११
३३. मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
—६११३
३४. जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ।
—६११९
३५. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।
—६१२१
३६. अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं ।
—६१२२
३७. कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।
—६१५९
३८. अमट्ठंतु न जाणेज्जा, एवमेयंति नो वए ।
—७१८
३९. जत्थ संका भवे तं तु, एवमेयंति नो वए ।
—७१९
४०. सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ।
—७१११
४१. न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे ।
—७१४८
४२. न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ।
—७१५४
४३. मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ।
—७१५५
४४. वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ।
—७१५६

३२. समस्त प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता।
३३. विश्व के सभी सत्पुरुषों ने मृषावाद (असत्य) की निंदा की है।
३४. जो सदा संग्रह की भावना रखता है, वह साधु नहीं, साधुवेष में गृहस्थ ही है।
३५. मूर्च्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है।
३६. अकिंचन मुनि, और तो क्या, अपने देह पर भी ममत्त्व नहीं रखते।
३७. कुशील (अनाचार) बढ़ाने वाले प्रसंगों से साधक को हमेशा दूर रहना चाहिए।
३८. जिस बात को स्वयं न जानता हो, उसके संबंध में "यह ऐसा ही है"—इस प्रकार निश्चित भाषा न बोले।
३९. जिस विषय में अपने को कुछ भी शंका जैसा लगता हो, उसके संबंध में "यह ऐसा ही है"—इस प्रकार निश्चित भाषा न बोले।
४०. वह सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का पापागम (अनिष्ट) होता हो।
४१. किसी प्रकार के दबाव या खुशामद से असाधु (अयोग्य) को साधु (योग्य) नहीं कहना चाहिए। साधु को ही साधु कहना चाहिए।
४२. हँसते हुए नहीं बोलना चाहिए।
४३. जो विचारपूर्वक सुन्दर और परिमित शब्द बोलता है, वह सज्जनों में प्रशंसा पाता है।
४४. बुद्धिमान ऐसी भाषा बोले—जो हितकारी ही एवं अनुज्ञात्मक—सभी को प्रिय हो।

४५. अप्पमत्तो जये निच्चं ।
--८११६
४६. बहं सुणेहिं कन्नेहिं, बहं अच्छीहिं पिच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥
--८१२०
४७. कन्नसोवख्खेहिं सद्धेहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।
--८१२६
४८. देहदुक्खं महाफलं ।
--८१२७
४९. थोवं लद्धुं न खिसए ।
--८१२९
५०. न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।
--८१३०
५१. बीयं तं न समायरे ।
--८१३१
५२. बलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ।
--८१३५
५३. जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥
--८१३६
५४. कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥
--८१३७
५५. कोहो पीहं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो ॥
--८१३८

४५. सदा अप्रमत्त भाव से साधना में यत्नशील रहना चाहिए ।
४६. भिक्षु-मुनि कानों से बहुत सी बातें सुनता है, आँखों से बहुत सी बातें देखता है, किंतु देखी-सुनी सभी बातें लोगों में कहना उचित नहीं है ।
४७. केवल कर्णप्रिय तथ्यहीन शब्दों में अनुरक्ति नहीं रखनी चाहिए ।
४८. शारीरिक कष्टों को समभावपूर्वक सहने से महाफल की प्राप्ति होती है ।
४९. मनचाहा लाभ न होने पर झुंझलाएँ नहीं ।
५०. बुद्धिमान् दूसरों का तिरस्कार न करे और अपनी बढ़ाई न करे ।
५१. एक बार भूल होने पर दुबारा उसकी आवृत्ति न करे ।
५२. अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, क्षेत्र और काल को ठीक तरह से परखकर ही अपने को किसी भी सत्कार्य के संपादन में नियोजित करना चाहिए ।
५३. जब तक बुढ़ापा आता नहीं है, जब तक व्याधियों का जोर बढ़ता नहीं है, जब तक इन्द्रियाँ (कर्मशक्ति) क्षीण नहीं होती हैं, तभी तक बुद्धिमान को, जो भी धर्माचरण करना हो, कर लेना चाहिए ।
५४. क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों पाप की वृद्धि करने वाले हैं, अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन चारों दोषों का परिस्थाग कर दे ।
५५. क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणों का नाश डर डालता है ।

५६. उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥
—८१३९
५७. रायणिएसु विणयं पउंजे ।
—८१४१
५८. सप्पहासं विवज्जए ।
—८१४२
५९. अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।
—८१४७
६०. पिट्ठिमंसं न खाइज्जा ।
—८१४७
६१. दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअजियं ।
अयंपिरमणुव्विगं, भासं निसिर अत्तवं ॥
—८१४९
६२. कुज्जा साहूहिं संथवं ।
—८१५३
६३. न या वि मोक्खो गुरुहीलणाए ।
—९११७
६४. जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
—९१११२
६५. एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो य से मोक्खो ।
—९१२१२
६६. जे य चंडे मिए थद्धे, दुक्खाई नियडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥
—९१२१३

५६. क्रोध को शान्ति से, मान को मृदुता-नम्रता से, माया को ऋजुता-सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए ।
५७. बड़ों (रत्नाधिक) के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करो ।
५८. अट्टाहास नहीं करना चाहिए ।
५९. विना पूछे व्यर्थ ही किसी के बीच में नहीं बोलना चाहिए ।
६०. किसी की चुगली खाना—पीठ का माँस नोंचने के समान है, अतः किसी की पीठ पीछ चुगली नहीं खाना चाहिए ।
६१. आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत), परिमित, सम्वेहरहित, परिपूर्ण (अधूरी कटीछटी बात नहीं) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किंतु, यह ध्यान में रहे कि वह वाणी वाचालता से रहित तथा दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो ।
६२. हमेशा साधुजनों के साथ ही संस्तव-संपर्क रखना चाहिए ।
६३. गुरुजनों की अवहेलना करने वाला कभी बंधमुक्त नहीं हो सकता ।
६४. जिनके पास धर्म-पदधर्म की शिक्षा ले, उनके प्रति सदा विनयभाव रखना चाहिए ।
६५. धर्म का मूल विनय है, और मोक्ष उसका अन्तिम फल है ।
६६. जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बह जाता है, जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ ।

६७. जे आयरिय-उवज्जायाणं, सुस्सुसा वयणं करे ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ।
—१।२।१२
६८. विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य ।
—१।२।२२
६९. असंबिभागी न ह्व तस्स मोक्खो ।
—१।२।२३
७०. जो छंदमाराहयई स पुज्जो ।
—१।३।१
७१. अलद्धुयं नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ।
—१।३।४
७२. वाया दुसत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।
—१।३।७
७३. गुणेहि साहू, अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाणि साहू गुण मुञ्चऽसाहू
—१।३।११
७४. वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ।
—१।३।११
७५. वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ।
—१०।१
७६. सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे ।
—१०।७
७७. न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा ।
—१०।१०

६७. जो अपने आचार्य एवं उपाध्यायों की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, उसकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष ।
६८. अधिनीत विपत्ति (दुःख) का भागी होता है और विनीत संपत्ति (सुख) का ।
६९. जो संविभागी नहीं है, अर्थात् प्राप्त सामग्री को साथियों में बाँटता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती ।
७०. जो गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है, वही शिष्य पूज्य होता है ।
७१. जो लाभ न होने पर खिन्न नहीं होता है और लाभ होने पर अपनी बढ़ाई नहीं हँकता है, वही पूज्य है ।
७२. वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के वैर और भय के कारण बन जाते हैं ।
७३. सद्गुण से साधु कहलाता है, दुर्गुण से असाधु । अतएव दुर्गुणों का त्याग करके सद्गुणों को ग्रहण करो ।
७४. जो अपने को अपने से जानकर राग-द्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वही साधक पूज्य है ।
७५. जो वान्त—त्याग की हुई वस्तु को पुनः सेवन नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है ।
७६. जिसकी दृष्टि सम्यक् है, वह कभी कर्तव्य-विमूढ़ नहीं होता ।
७७. विग्रह बढ़ाने वाली बात नहीं करनी चाहिए ।

७८. उवसंते अविहेइए जे स भिक्खू ।

—१०।१०

७९. पुढविसमो मुणी हवेज्जा ।

—१०।१३

८०. संभिनवत्तस्स य हिट्ठिमा गई ।

—चू० १।१३

८१. बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ।

—चू० १।१४

८२. चइज्ज देहं, न हु धम्मसासणं ।

—चू० १।१७

८३. अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ।

चू० —२।३

८४. जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,

संपेहए अप्पगमप्पएणं ।

किं मे कडं किंच मे किच्चसेसं,

किं सक्कणिज्जं न समायराभि ॥

—चू० २।१२

८५. अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो ।

—चू० २।१६



७८. जो शान्त है, और अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक (अनुपेक्षी) है, वही श्रेष्ठ भिक्षु है।
७९. मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।
८०. व्रत से भ्रष्ट होने वाले की अघोगति होती है।
८१. सद्बोध प्राप्त करने का अवसर बार-बार मिलना सुलभ नहीं है।
८२. देह को (आवश्यक होने पर) भले छोड़ दो, किन्तु अपने धर्म-शासन को मत छोड़ो।
८३. अनुस्रोत—अर्थात् विषयासक्त रहना, संसार है। प्रतिस्त्रोत—अर्थात् विषयों से विरक्त रहना, संसार सागर से पार होना है।
८४. जागृत साधक प्रतिदिन रात्रि के प्रारम्भ में और अन्त में सम्यक् प्रकार से आत्मनिरीक्षण करता है कि मैंने क्या (सत्कर्म) किया है, क्या नहीं किया है? और वह कौन-सा कार्य बाकी है, जिसे मैं कर सकने पर भी नहीं कर रहा हूँ?
८५. अपनी आत्मा को सतत पापों से बचाये रखना चाहिए।



उत्तराध्ययन की सूक्तियाँ

१. आणानिद्वेसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥
—११२
२. जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरो निक्कसिज्जई ॥
—११४
३. कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥
—११५
४. विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ।
—११६
५. अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ।
—११८
६. अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।
—११९
७. खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ।
—११९

उत्तराध्ययन की सूक्तियाँ



१. जो गुरुजना की आज्ञाओं का यथोचित पालन करता है, उनके निकट संपर्क में रहता है, एवं उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है—उसे विनीत कहा जाता है ।
२. जिस प्रकार सड़े हुए कानों वाली कुतिया जहाँ भी जाती है, निकाल दी जाती है; उसी प्रकार दुःशील, उदंड और मुखर=वाचाल मनुष्य भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है ।
३. जिस प्रकार चावलों का स्वादिष्ट भोजन छोड़कर [शूकर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार पशुवत् जीवन बिताने वाला अज्ञानी, शील=सदाचार को छोड़कर दुःशील=दुराचार को पसंद करता है ।
४. आत्मा का हित चाहने वाला साधक स्वयं को विनय = सदाचार में स्थिर करे ।
५. अर्थयुक्त (सारभूत) बातें ही ग्रहण कीजिए, निरर्थक बातें छोड़ दीजिए ।
६. गुरुजनों के अनुशासन से कुपित = क्षुब्ध नहीं होना चाहिए ।
७. क्षुद्र लोगों के साथ संपर्क, हंसी मजाक, क्रीडा आदि नहीं करना चाहिए ।

८. बहुर्यं मा य आलवे ।
—११०
९. आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
—१११
१०. कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ।
—१११
११. मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
—११२
१२. नापुट्ठो वागरे किञ्चि, पुट्ठो वा नालियं वए ।
—११४
१३. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥
—११५
१४. वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥
—११६
१५. हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ।
—११८
१६. काले कालं समायरे ।
—११९
१७. रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ।
—१२७
१८. बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ।
—१३७
१९. अप्पाणं पि न कोवए ।
—१४०

८. बहुत नहीं बोलना चाहिए ।
९. यदि साधक कभी कोई चाण्डालिक = दुष्कर्म कर ले, तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे ।
१०. बिना किसी छिपाव या दुराव के किये हुए कर्म को किया हुआ कहिए, तथा नहीं किये हुए कर्म को न किया हुआ कहिए ।
११. बार-बार चाबुक की मार खाने वाले गलिताश्व (अडियल या दुर्बल घोड़े) की तरह कर्तव्य पालन के लिए बार बार गुरुओं के निर्देश की अपेक्षा मत रखो ।
१२. बिना बुलाए बीच में कुछ नहीं बोलना चाहिये, बुलाने पर भी असत्य जैसा कुछ न कहे ।
१३. अपने आप पर नियंत्रण रखना चाहिए । अपने आप पर नियंत्रण रखना वस्तुतः कठिन है । अपने पर नियंत्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है ।
१४. दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करें, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओं का) दमन कर लू ।
१५. प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती हैं ।
१६. समय पर, समय का उपयोग (समयोचित कर्तव्य) करना चाहिए ।
१७. विनीत बुद्धिमान शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोड़े) पर सवारी करता हुआ घुडसवार ।
१८. बाल अर्थात् जड़मूढ़ शिष्यों को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार खिन्न होता है, जैसे अडियल या मरियल घोड़े पर चढ़ा हुआ सवार ।
१९. अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो ।

एक सी दो

सूक्ति त्रिवेणी

२०. न सिया तोत्तगवेसए ।
—१४०
२१. नच्चा नमइ मेहावी ।
—१४५
२२. माइन्ने असणपाणस्स ।
—२१३
२३. अदीणमणसा चरे ।
—२१३
२४. न य वित्तासए परं ।
—२१२०
२५. संकाभीओ न गच्छेज्जा ।
—२१२१
२६. सरिसो होइ बालाणं ।
—२१२४
२७. नत्थि जीवस्स नासो त्ति ।
—२१२७
२८. अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ।
—२१३१
२९. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥
—३११
- ३० जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ।
—३१७
३१. सद्धा परमदुल्लहा ।
—३१९

२०. दूसरों के छलछिद्र नहीं देखना चाहिए ।
२१. बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त कर के नम्र हो जाता है ।
२२. साधक को खाने पीने की मात्रा = मर्यादा का ज्ञाता होना चाहिए ।
२३. संसार में अदीनभाव से रहना चाहिए ।
२४. किसी भी जीव को त्रास = कष्ट नहीं देना चाहिए ।
२५. जीवन में शंकाओं से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो ।
२६. बुरे के साथ बुरा होना, बचकानापन है ।
२७. आत्मा का कभी नाश नहीं होता ।
२८. “आज नहीं मिला है तो क्या है, कल मिल जाएगा”—जो यह विचार कर लेता है, वह कभी अलाभ के कारण पीडित नहीं होता ।
२९. इस संसार में प्राणियों को चार परम अंग (उत्तम संयोग) अत्यन्त दुर्लभ हैं—१. मनुष्य जन्म, २. धर्म का सुनना, ३. सम्यक् श्रद्धा और ४. संयम में पुरुषार्थ ।
३०. संसार में आत्माएँ क्रमशः शुद्ध होते-होते मनुष्यभव को प्राप्त करती हैं ।
३१. धर्म में श्रद्धा होना परम दुर्लभ है ।

३२. सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।
—३।१२
३३. असंखयं जीविय मा पमायए,
—४।१
३४. वेराणुबद्धा नरयं उवेति ।
—४।२
३५. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।
—४।३
३६. सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
—४।३
३७. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
—४।५
३८. घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ।
—४।६
३९. सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी ।
—४।६
४०. छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं ।
—४।८
४१. कंखे गुणे जाव सरीरभेऊ ।
—४।१३
४२. चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परिगाययं ॥
—५।२१
४३. भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिनं ।
—५।२२

३२. ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है।
३३. जीवन का धागा टूट जाने पर पुनः जुड़ नहीं सकता, वह असंस्कृत है, इसलिए प्रमाद मत करो।
३४. जो व्यक्ति वैर की परम्परा को लम्बा किए रहते हैं, वे नरक को प्राप्त होते हैं।
३५. कृत कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है।
३६. पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है।
३७. प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकता—न इस लोक में और न परलोक में !
३८. समय बड़ा भयकर है और इधर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतः साधक को सदा अप्रमत्त होकर भारंडपक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करना चाहिए।
३९. प्रबुद्ध साधक सोये हुआ (प्रमत्त मनुष्यों) के बीच भी सदा जागृत-अप्रमत्त रहे।
४०. इच्छाओं को रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।
४१. जब तक जीवन है, (शरीर-भेद न हो) सद्गुणों की आराधना करते रहना चाहिए।
४२. चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएँ, कन्था और शिरोमुंडन—यह सभी उपक्रम आचारहीन साधक की (दुर्गति से) रक्षा नहीं कर सकते।
४३. भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती (सदाचारी) है, वह विव्यगति को प्राप्त होता है।

एक सौ छह

सूक्ति त्रिवेणी

४४. गिहिवासे वि सुव्वए ।

—५१२४

४५. न संतसंति मरणंते, सीलवंता बहुस्सुया ।

—५१२९

४६. जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ।

—६११

४७. अप्पणा सच्चमेसेज्जा ।

—६१२

४८. मेत्ति भूएसु कप्पए ।

—६१२

४९. न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ।

—६१७

५०. भणंता अकरेन्ता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥

—६११०

५१. न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।

—६१११

५२. पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ।

—६११४

५३. आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ।

—७११०

५४. माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।

मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥

—७११६

४४. धर्मशिक्षासंपन्न गृहस्थ गृहवास में भी सुव्रती है।
४५. ज्ञानी और सदाचारी आत्माएँ मरणकाल में भी त्रस्त अर्थात् भयाक्रांत नहीं होते।
४६. जितने भी अज्ञानी—तत्त्व-बोध-हीन पुरुष हैं, वे सब दुःख के पात्र हैं। इस अनन्त संसार में वे मूढ़ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।
४७. अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसंधान करो।
४८. समस्त प्राणियों पर मित्रता का भाव रखो।
४९. जो भय और वैर से उपरत—मुक्त हैं, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते।
५०. जो केवल बोलते हैं, करते कुछ नहीं, वे बन्ध-मोक्ष की बातें करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के बस पर ही अपने आप को आश्वस्त किए रहते हैं।
५१. विविध भाषाओं का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकता, फिर भला विद्याओं का अनुशासन—अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा।
५२. पहले के किए हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस देह की सार-संभाल रखनी चाहिए।
५३. अज्ञानी जीव विवश हुए अंधकाराच्छन्न आसुरीगति को प्राप्त होते हैं।
५४. मनुष्य-जीवन मूल-धन है। देवगति उसमें लाभ रूप है। मूल-धन के नाश होने पर नरक, तिर्यच-गति रूप हानि होती है।

५५. कम्मसच्चा हु पाणिणो ।
—७१२०
५६. बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ।
—८११५
५७. कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥
—८११६
५८. जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठयं ॥
—८११७
५९. संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं ।
—९१२६
६०. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥
—९१३४
६१. सव्वं अप्पे जिए जियं ।
—९१३६
६२. इच्छा हु आगाससमा अर्णतिया ।
—९१४८
६३. कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं ।
—९१५३
६४. अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥
—९१५४
६५. दुमपत्तए पंडुयए जहा,
निवडइ राइग्गणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—१०११

५५. प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं ।
५६. जो आत्माएँ बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।
५७. धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाए , तब भी वह उससे संतुष्ट नहीं हो सकता—इस प्रकार आत्मा की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर (पूर्ण होना कठिन) है ।
५८. ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरंतर बढ़ता ही जाता है । दो माशा सोने से संतुष्ट होने वाला करोड़ों (स्वर्ण-मुद्राओं) से भी संतुष्ट नहीं हो पाया ।
५९. साधना में संशय वही करता है, जो कि मार्ग में ही धर करमा (रुक जाना) चाहता है ।
६०. भयंकर युद्ध में हजारों—हजार दुर्दान्त शत्रुओं को जितने की अपेक्षा अपने आप को जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है ।
६१. एक अपने (विकारों) को जीत लेने पर सबको जीत लिया जाता है ।
६२. इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं ।
६३. काम-भोग की लालसा-ही-लालसा में प्राणी, एक दिन, उन्हें बिना भोगे ही दुर्गति में चला जाता है ।
६४. क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है । मान से अधम गति प्राप्त करता है । माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । लोभ से इस लोक और परलोक दोनों में ही भय = कष्ट होता है ।
६५. जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़ जाते हैं, एवं भूमि पर झड़ पड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जाता है । अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर ।

६६. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए
थोवं चिट्ठइं लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—१०१२
६७. विहुणाहि रयं पुरे कडं ।
—१०१३
६८. दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।
—१०१४
६९. परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया ह्वन्ति ते ।
से सब्बबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—१०१२६
७०. तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—१०१३४
७१. अह पंचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण वा ॥
—१११३
७२. न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई
—११११२
७३. पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धु मरिहई ।
—११११४
७४. महप्पसाया इसिणो ह्वन्ति,
न हु मुणि कोवपरा ह्वन्ति ।
—१२१३१

६६. जैसे कुश (घास) की नोंक पर हिलती हुई ओस की बूंद बहुत थोड़े समय के लिए टिक पाती है, ठीक ऐसा ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। अतएव हे गौतम ! क्षणभर के लिए भी प्रमाद न कर !
६७. पूर्वसंचित कर्म—रूपी रज को साफ कर !
६८. मनष्य जन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।
६९. तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।
७०. तू महासमुद्र को तैर चुका है, अब किनारे आकर क्यों बैठ गया ? उस पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद उचित नहीं है।
७१. अहंकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति), रोग और आलस्य—इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नहीं कर सकता।
७२. सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी परिचितों पर कुपित ही होता है। और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष में उसकी भलाई की ही बात करता है।
७३. प्रिय (अच्छा) कार्य करने वाला और प्रिय वचन बोलने वाला, अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त करने में अवश्य सफल होता है।
७४. ऋषि-मुनि सदा प्रसन्नचित रहते हैं, कभी किसी पर क्रोध नहीं करते।

७५. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई ।

—१२।३७

७६. तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती ।
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

१२।४४

७७. धम्मे हरए वम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहि सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥

—१२।४६

७८. सग्गं सुचिण्णं सफलं नराणं ।

१३।१०

७९. सब्बे कामा दुहावहा ।

१३।१६

८०. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।

१३।२३

८१. वणं जरा हरइ नरस्स रायं !

—१३।२६

८२. उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ।

—१३।२३

८३. वेया अहीया न हवंति ताणं ।

—१४।१२

८४. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा ।

—१४।१३

७५. तप (चरित्र) की विशेषता तो प्रत्यक्ष में दिखलाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती ।
७६. तप-ज्योति अर्थात् अग्नि है, जीव ज्योतिस्थान है; मन, वचन काया के योग स्रुवा = आहुति देने की कड़खी है, शरीर कारीषांग = अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है; कर्म जलाए जाने वाला इंधन है, संयम योग शान्ति-पाठ है । मैं इस प्रकार का यज्ञ—होम करता हूँ, जिसे ऋषियों ने श्रेष्ठ बताया है ।
७७. धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।
७८. मनुष्य के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते हैं ।
७९. सभी काम-भोग अन्ततः दुःखावह (दुःखद) ही होते हैं ।
८०. कर्म सदा कर्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं ।
८१. हे राजन् ! जरा, मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है ।
८२. जैसे वृक्ष के फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोगसाधन उसे छोड़ देते हैं, उसके हाथ से निकल जाते हैं ।
८३. अध्ययन कर लेने मात्र से वेद (शास्त्र) रक्षा नहीं कर सकते ।
८४. संसार के विषय भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं, किन्तु बदले में चिर काल तक दुःखदायी होते हैं ।

...८

८५. धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?
—१४१७
८६. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चं ।
—१४१९
८७. अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो ।
—१४१९
८८. मच्चुणाऽऽभाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ।
—१४२३
८९. जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥
—१४२५
९०. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥
—१४२७
९१. सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं ।
—१४२८
९२. साहाहिं सक्खो लहई समाहिं,
छिन्नाहिं साहाहिं तमेव खाणुं ।
—१४२९
९३. जुण्णा व हंसो पडिसोत्तगामो ।
—१४३३
९४. सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा वि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥
—१४३९
९५. एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।
—१४४०

८५. धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है ? वहाँ तो सदाचार की जरूरत है ।
८६. आत्मा आदि अमूर्त तत्त्व इंद्रिय ग्राह्य नहीं होते और जो अमूर्त होते हैं वे अविनाशी—नित्य भी होते हैं ।
८७. अंदर के विकार ही वस्तुतः बंधन के हेतु हैं ।
८८. जरा से घिरा हुआ यह संसार मृत्यु से पीड़ित हो रहा है ।
८९. जो रात्रियाँ बीत जाती हैं, वे पुनः लौट कर नहीं आतीं; किन्तु, जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रियाँ सफल हो जाती हैं ।
९०. जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो उससे कहीं भाग कर बच सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूँगा ही नहीं, वही कल पर भरोसा कर सकता है ।
९१. धर्म-श्रद्धा हमें राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है ।
९२. वृक्ष की सुन्दरता शाखाओं से है । शाखाएँ कट जाने पर वही वृक्ष-ठूठ (स्थानु) कहलाता है ।
९३. बूढ़ा हंस प्रतिस्रोत (जलप्रवाह के सम्मुख) में तैरने से डूब जाता है । (असमर्थ व्यक्ति समर्थ का प्रतिरोध नहीं कर सकता) ।
९४. यदि यह जगत् और जगत का समस्त धन भी तुम्हें दे दिया जाए तब भी वह (जरा मृत्यु आदि से) तुम्हारी रक्षा करने में अपर्याप्त—असमर्थ है ।
९५. राजन् ! एक धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवा विश्व में कोई भी मनुष्य का त्राता नहीं है ।

९६. उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे ।
—१४।४७
९७. देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ॥
—१६।१६
९८. भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणे त्ति वुच्चई ।
—१७।३
९९. असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति उच्चई ।
—१७।११
१००. अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ?
—१८।११
१०१. जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
—१८।१३
१०२. दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवंति, मयं नाणुव्वयति य ॥
—१८।१४
१०३. किरिअं च रोयए धीरो ।
—१८।३३
१०४. जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥
—१९।१६
१०५. भासियव्वं हियं सच्चं ।
—१९।२७
१०६. दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
—१९।२८
१०७. बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ।
—१९।३७

९६. सर्प, गरुड के निकट डरता हुआ बहुत संभल कर चलता है ।
९७. देवता, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते हैं, क्यों कि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है ।
९८. जो श्रमण खा-पीकर खूब सोता है, समय पर धर्माराधना नहीं करता, वह 'पापश्रमण' कहलाता है ।
९९. जो श्रमण असंविभागी है (प्राप्त सामग्री को साथियों में बांटता नहीं है, और परस्पर प्रेमभाव नहीं रखता है), वह 'पाप श्रमण' कहलाता है ।
१००. जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है, फिर क्यों हिंसा में आसक्त होते हो ?
१०१. जीवन और रूप, बिजली की चमक की तरह चंचल हैं ।
१०२. स्त्री, पुत्र, मित्र और बंधुजन सभी जीते-जी के साथी हैं, मरने के बाद कोई किसी के पीछे नहीं जाता ।
१०३. धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्तव्य) में ही रुचि रखते हैं ।
१०४. संसार में जन्म का दुःख है, जरा, रोग और मृत्यु का दुःख है, चारों ओर दुःख-ही-दुःख है । अतएव वहाँ प्राणी निरंतर कष्ट ही पाते रहते हैं ।
१०५. सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए ।
१०६. अस्तेयव्रत का साधक बिना किसी की अनुमति के और तो क्या, दांत साफ करने के लिए एक तिनका भी नहीं लेता ।
१०७. सद्गुणों की साधना का कार्य भुजाओं से सागर तैरने जैसा है ।

१०८. असिधारागमणं चैव, दुक्करं चरिउं तवो ।
—१९।३८
१०९. इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं ।
—१९।४५
११०. ममत्तं छिन्दए ताए, महानागोव्व कंचुयं ।
—१९।८७
१११. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा पसंसासु, समो माणावमाणओ ॥
—१९।९१
११२. अप्पणा अनाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि ?
—२०।१२
११३. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ।
—२०।३६
११४. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठओ ॥
—२०।३७
११५. राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ।
—२०।४२
११६. न तं अरी कंठछित्ता करेई,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
—२०।४८
११७. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ।
—२०।१४
११८. सीहो व सद्देण न संतसेज्जा ।
—२१।१४

१०८. तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है ।
१०९. जो व्यक्ति संसार की पिपासा—तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है ।
११०. आत्म साधक ममत्व के बंधन को तोड़ फेंके—जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को उतार फेंकता है ।
१११. जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है ।
११२. तू स्वयं अनाथ है, तो फिर दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है ?
११३. मेरी (पाप में प्रवृत्त) आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट शालमली वृक्ष के समान कष्टदायी है और मेरी आत्मा ही (सत्कर्म में प्रवृत्त) कामधेनु और नंदन वन के समान सुखदायी भी है ।
११४. आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता और भोक्ता है । सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है ।
११५. वैदूर्य रत्न के समान चमकने वाले कांच के टुकड़े का, जानकार (जौहरी) के समक्ष कुछ भी मूल्य नहीं रहता ।
११६. गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नहीं करता, जितनी हानि दुराचार में प्रवृत्त अपना ही स्वयं का आत्मा कर सकता है ।
११७. अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र (विश्व) में विचरण करिए ।
११८. सिंह के समान निर्भीक रहिए, केवल शब्दों (आवाजों) से न डरिए ।

११९. पियमप्पियं सव्व तित्तिक्खएज्जा ।
—२१।१५
१२०. न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा ।
—२१।१५
१२१. अणेगच्छन्दा इह माणवेहिं ।
—२१।१६
१२२. अणुन्नए नावणए महेसी,
न यावि पूयं, गरिहं च संजए ।
—२१।२०
१२३. नाणेणं दसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य ।
खंतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य ॥
—२२।२६
१२४. पण्णा समिक्खए धम्मं ।
—२३।२५
१२५. विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छिउं
—२३।३१
१२६. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविह्विगप्पणं ।
—२३।३२
१२७. एगप्पा अजिए सत्तू ।
—२३।३८
१२८. भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।
—२३।४८
१२९. कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं ।
—२३।५३
१३०. मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तू निगिण्हामि, धम्मसिक्खाईं कन्थगं ॥
—२३।५५

११९. प्रिय हो या अप्रिय, सबको समभाव से सहन करना चाहिए ।
१२०. हर कहीं, हर किसी वस्तु में मन को मत लगा बैठिए ।
१२१. इस संसार में मनुष्यों के विचार (छन्द = रचियाँ) भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं ।
१२२. जो पूजा-प्रशंसा सुनकर कभी अहंकार नहीं करता और निन्दा सुनकर स्वयं को हीन (अवनत) नहीं मानता, वही वस्तुतः महर्षि है ।
१२३. ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा और निर्लोभता की दिशा में निरन्तर वर्द्धमान = बढ़ते रहिए ।
१२४. साधक की स्वयं की प्रज्ञा ही समय पर धर्म की समीक्षा कर सकती है ।
१२५. विज्ञान (विवेक-ज्ञान) से ही धर्म के साधनों का निर्णय होता है ।
१२६. धर्मों के वेष आदि के नाना विकल्प जनसाधारण में प्रत्यय (परिचय-पहिचान) के लिए हैं ।
१२७. स्वयं की अविजित = असंयत आत्मा ही स्वयं का एक शत्रु है ।
१२८. संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल है ।
१२९. कषाय—(क्रोध, मान, माया और लोभ) को अग्नि कहा है । उसको बुझाने के लिए श्रुत (ज्ञान), शील, सदाचार और तप जल है ।
१३०. यह मन बड़ा ही साहसिक, भयंकर, दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तेजी के साथ दौड़ता रहता है । धर्मशिक्षारूप लगाम से उस घोड़े को अच्छी तरह बश में किए रहता हूँ ।

१३१. जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥
—२३।६८
१३२. जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ।
—२३।७१
१३३. सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥
—२३।७३
१३४. जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥
—२५।२७
१३५. न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ।
—२५।३१
१३६. समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होई तावसो ।
—२५।३२
१३७. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
बइस्सो कम्मुणा होइ, सुट्ठो हवइ कम्मुणा ॥
—२५।३३
१३८. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥
—२५।४१
१३९. विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ।
—२५।४३

१३१. जरा और मरण के महाप्रवाह में डूबते प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा = आधार है, गति है, और उत्तम शरण है ।
१३२. छिद्रों वाली नौका पार नहीं पहुँच सकती, किंतु जिस नौका में छिद्र नहीं है, वही पार पहुँच सकती है ।
१३३. यह शरीर नौका है. जीव-आत्मा उसका नाविक (मल्लाह) है और संसार समुद्र है । महर्षि इस देहरूप नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते हैं ।
१३४. ब्राह्मण वही है— जो संसार में रह कर भी काम भोगों से निलिप्त रहता है, जैसे कि कमल जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ।
१३५. सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुशचीवर= वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता ।
१३६. समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है ।
१३७. कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र ।
१३८. जो भोगी (भोगासक्त) है, वह कर्मों से लिप्त होता है और जो अभोगी है, भोगासक्त नहीं है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता । भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है । भोगों में अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है ।
१३९. मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कहीं भी चिपकता नहीं है, अर्थात् आसक्त नहीं होता ।

१४०. सज्ज्ञाएवा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
—२६।१०
१४१. सज्ज्ञायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ।
—२६।३७
१४२. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गे त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥
—२८।२
१४३. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं ।
—२८।२६
१४४. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं ॥
—२८।३०
१४५. नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सदहे ।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥
—२८।३५
१४६. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयई ।
—२९।८
१४७. खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ ।
—२९।१७
१४८. सज्ज्ञाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई ।
—२९।१८
१४९. वेयावच्चेणं तित्थयरं नामगोत्तं कम्मं निबन्धई ।
—२९।४३
१५०. वीयरगयाए णं नेहाणुबंधणाणि,
तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदई ॥
—२९।४५

१४०. स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है ।
१४१. स्वाध्याय सब भावों (विषयों), का प्रकाश करने वाला है ।
१४२. वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले जिन भगवान ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बताया है ।
१४३. सम्यक्त्व (सत्यदृष्टि) के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता ।
१४४. सम्यक् दर्शन के अभाव में ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण नहीं होते, गुणों के अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में निर्वाण (शाश्वत आत्मानंद) प्राप्त नहीं होता ।
१४५. ज्ञान से भावों (पदार्थों) का सम्यक्-बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है । चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होता है ।
१४६. सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है ।
१४७. क्षमापना से आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है ।
१४८. स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करने वाले) कर्म का क्षय होता है ।
१४९. वैयावृत्य (सेवा) से आत्मा तीर्थकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपाजन करता है ।
१५०. वीतराग भाव की साधना से स्नेह (राग) के बंधन और तृष्णा के बंधन कट जाते हैं ।

१५१. अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे,
धम्मस्स आराहए भवइ ।
—२९।४८
१५२. करण सच्चे वट्टमाणे जीवे,
जहावाई तहाकारी यावि भवइ ।
—२९।५१
१५३. वयगुत्तयाए णं णिव्विकारत्तं जणयई ।
—२९।५४
१५४. जहा सूई समुत्ता, पडियावि न विणस्सइ ॥
तहा जीवे समुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥
—२९।५९
१५५. कोहविजए णं खंति जणयई ।
—२९।६७
१५६. माणविजए णं मह्वं जणयई ।
—२९।६८
१५७. मायाविजए णं अज्जवं जणयइ ।
—२९।६९
१५८. लोभविजए णं संतोसं जणयई ।
—२९।७०
१५९. भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।
—३०।६
१६०. असंजमे नियत्ति च, संजमे य पवत्तणं ।
—३१।२
१६१. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोवखं समुवेइ मोक्खं ।
—३२।२

१५१. दम्भरहित, अविस्वादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है ।
१५२. करणसत्य-व्यवहार में स्पष्ट तथा सच्चा रहने वाला आत्मा ' जैसी कथनी वैसी करनी' का आदर्श प्राप्त करता है ।
१५३. वचन गुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है ।
१५४. धागे में पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा संसार में भटकता नहीं, विनाश को प्राप्त नहीं होता ।
१५५. क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है ।
१५६. अभिमान को जीत लेने से मृदुता (नम्रता) जागृत होती है ।
१५७. माया को जीत लेने से ऋजुता (सरल भाव) प्राप्त होती है ।
१५८. लोभ को जीत लेने से संतोष की प्राप्ति होती है ।
१५९. साधक करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है ।
१६०. असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए ।
१६१. ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग एवं द्वेष के क्षय से आत्मा एकान्तसुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है ।

१६२. जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ।
—३२।६
१६३. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ।
—३२।७
१६४. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किचणाइं ॥
—३२।८
१६५. रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्वंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥
—३२।१०
१६६. सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं ।
—३२।१९
१६७. लोभाविले आययई अदत्तं ।
—३२।२९
१६८. रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ।
—३२।३६

१६२. जिस प्रकार बलाका (बगुली) अंडे से उत्पन्न होती है और अंडा बलाका से; इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से ।
१६३. राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है ।
१६४. जिसको मोह नहीं होता उसका दुःख नष्ट हो जाता है । जिसको तृष्णा नहीं होती, उसका मोह नष्ट हो जाता है । जिसको लोभ नहीं होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।
१६५. ब्रह्मचारी को घी-दूध आदि रसों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः उद्दीपक होते हैं । उद्दीप्त पुरुष के निकट काम-भावनाएँ वैसे ही चली आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले आते हैं ।
१६६. देवताओं सहित समग्र संसार में जो भी दुःख है, वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं ।
१६७. जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है, तो वह चोरी करने को प्रवृत्त होता है ।
१६८. मनोज्ञ शब्द आदि राग के हेतु होते हैं और अमनोज्ञ द्वेष के हेतु ।

१६९. सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठं ।
—३२।४२
१७०. पटुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।
—३२।४६
१७१. न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।
—३२।४७
१७२. समो य जो तेसु स वीयरारो ।
—३२।६१
१७३. एविदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेति किञ्चि ॥
—३२।१००
१७४. न कामभोगा समयं उवेति,
न यावि भोगा विगइं उवेति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेस मोहा विगइं उवेइ ॥
—३२।१०१
१७५. न रसठ्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ।
—३५।१७
१७६. अउलं सुहसंपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ
—३६।६६



१६९. शब्द आदि विषयों में अतृप्त और परिग्रह में आसक्त रहने वाला आत्मा कभी संतोष को प्राप्त नहीं होता ।
१७०. आत्मा प्रदुष्टचित्त (रागद्वेष से कलुषित) होकर कर्मों का संचय करता है । वे कर्म विपाक (परिणाम) में बहुत दुःखदायी होते हैं ।
१७१. जो आत्मा विषयों के प्रति अनासक्त है, वह संसार में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता । जैसे कि पुष्करिणी के जल में रहा हुआ पलाश-कमल ।
१७२. जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में सम रहता है, वह वीतराग है ।
१७३. मन एवं इन्द्रियों के विषय, रागात्मा को ही दुःख के हेतु होते हैं । वीतराग को तो वे किञ्चित् मात्र भी दुःखी नहीं कर सकते ।
१७४. कामभोग—शब्दादि विषय न तो स्वयं में समता के कारण होते हैं और न विकृति के ही । किंतु जो उनमें द्वेष या राग करता है, वह उनमें मोह से राग-द्वेष रूप विकार को उत्पन्न करता है ।
१७५. साधु स्वाद के लिए भोजन न करे, किंतु जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए करे ।
१७६. मोक्ष में आत्मा अनंत सुखमय रहता है । उस सुख की कोई उपमा नहीं है और न कोई गणना ही है ।



आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियाँ



१. अंगाणं किं सारो ? आयारो ।

आचारंग नियुक्ति, गाथा १६

२. सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं ।

--आचा० नि० १७

३. एकका मणुस्सजाई ।

--आचा० नि० १९

४. हेट्ठा नेरइयाणं अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।

--आचा० नि० ५८

५. सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ।

--आचा० नि० ९४

६. भावे अ असंजमो सत्थं ।

--आचा० नि० ९६

७. कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चई खिप्पं ।

--आचा० नि० १७७

८. कामा चरित्तमोहो ।

--आचा० नि० १८८

आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियाँ

१. जिनवाणी (अंग-साहित्य) का सार क्या है ? 'आचार' सार है ।
२. प्ररूपणा का सार है—आचरण ।
आचरण का सार (अन्तिम फल) है—निर्वाण !
३. समग्र मानव जाति एक है ।
४. नारकों की दिशा, अधोदिशा है और देवताओं की दिशा, ऊर्ध्व दिशा ।
(यदि अध्यात्मदृष्टि से कहा जाए, तो अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक हैं और ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व के) ।
५. कुछ लोग अपने सुख की खोज में दूसरों को दुःख पहुँचा देते हैं ।
६. भाव-दृष्टि से संसार में असंयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है ।
७. जिसकी मति, काम (वासना) से मुक्त है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है ।
८. वस्तुतः काम की वृत्ति ही चारित्रमोह (चरित्र-मूढ़ता) है ।

९. संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया ।
—आचा० नि० १८९
१०. अभयकरो जीवाणं, सीयचरो संजमो भवइ सीओ ।
—आचा० नि० २०६
११. न हु बालतवेण मुक्खु त्ति ।
—आचा० नि० २१४
१२. न जिणइ अंधो पराणीयं ।
—आचा० नि० २१९
१३. कुणमाणोऽवि निव्वित्ति,
परिच्चयंतोऽवि सयण-धण-भोए ।
दितोऽवि दुहस्स उरं,
मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ ॥
—आचा० नि० २२०
१४. दंसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाई ।
—आचा० नि० २२१
१५. न हु कइतवे समणो ।
—आचा० नि० २२४
१६. जह खलु झुसिरं कट्ठं, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी ।
तह खलु खवंति कम्मं, सम्मच्चरणे ठिया साहू ॥
—आचा० नि० २३४
१७. लोगस्स सार धम्मो, धम्मं पि य नाणसारियं वित्ति ।
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥
—आचा० नि० २४४
१८. देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ।
—आचा० नि० २५९

९. संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय हैं ।
१०. प्राणिमात्र को अभय करने के कारण संयम शीतगृह (वातानुकूलित गृह) के समान शीत अर्थात् शान्तिप्रद है ।
११. अज्ञान-तप से कभी मुक्ति नहीं मिलती ।
१२. अंधा कितना ही बहादुर हो, शत्रुसेना को पराजित नहीं कर सकता । इसी प्रकार अज्ञानी साधक भी अपने विकारों को जीत नहीं सकता ।
१३. एक साधक निवृत्ति की साधना करता है, स्वजन, धन और भोग-विलास का परित्याग करता है, अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है, किंतु यदि वह मिथ्यादृष्टि है, तो अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ।
१४. सम्यक्-दृष्टि के ही तप, ज्ञान और चारित्र्य सफल होते हैं ।
१५. जो दंभी है, वह श्रमण नहीं हो सकता ।
१६. जिस प्रकार पुराने सूखे, खोखले काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती है, वैसे ही निष्ठा के साथ आचार का सम्यक् पालन करने वाला साधक कर्मों को नष्ट कर डालता है ।
१७. विश्व—सृष्टि का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान (सम्यक्-बोध) है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण—(शाश्वत आनंद की प्राप्ति) है ।
१८. साधक कर्म-बंधन से देश-मुक्त (अंशतः मुक्त) होता है और सिद्ध सर्वथा मुक्त ।

१९. जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं ।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥

—आचा० नि० २८२

२०. जह वा विसगंडूसं, कोई घेतूण नाम तुण्हक्को ।
अण्णेण अदीसंतो, कि नाम ततो न व मरेज्जा !

—सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ५२

२१. धम्मंमि जो दढमई, सो सूरुो सत्तिओ य वीरो य ।
ण हु धम्मणिहस्साहो, पुरिसो सूरुो सुबलिओऽवि ॥

—सूत्र० नि० ६०

२२. अहवा वि नाणदंसणचरित्तविणए तहेव अज्झप्पे ।
जे पवरा होंति मुणी, ते पवरा पुंडरीया उ ॥

—सूत्र० नि० १५६

२३. अवि य हु भारियकम्मा, नियमा उक्कस्सनिरयठित्तिगामी ।
तेऽवि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति ॥

—सूत्र० नि० १६०

२४. धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धि त्ति काऊणं ।

—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४४

२५. हिंसाए पडिववखो होइ अहिंसा ।

—दशवै० नि० ४५

२६. सुहुदुक्खसंपओगो, न विज्जई निच्चवायपक्खंमि ।
एगतुच्छेअंमि य, सुहुदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥

—दशवै० नि० ६०

२७. उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा ।

—दशवै० नि० १६४

२८. मिच्छत्तं वेयन्तो, जं अघ्नाणी कहां परिकहेइ ।
लिगतथो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए ॥
तवसंजमगुणधारी, जं चरणत्था कहिति सब्भावं ।
सव्वजगज्जीवहियं, सा उ कहा देसिया समए ॥

१९. जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तप साधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।
२०. जिस प्रकार कोई चुपचाप लुकछिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नहीं मरेगा ? अवश्य मरेगा । उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है, तो क्या वह उससे दूषित नहीं होगा ? अवश्य होगा ।
२१. जो व्यक्ति धर्म में दृढ़ निष्ठा रखता है, वस्तुतः वही बलवान है, वही शूर-वीर है । जो धर्म में उत्साहहीन है, वह शारीरिक शक्ति से वीर एवं बलवान होते हुए भी अध्यात्म दृष्टि से न वीर है, न बलवान है ।
२२. जो साधक अध्यात्मभावरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और विनय में श्रेष्ठ हैं, वे ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुंडरीक कमल हैं ।
२३. कोई कितना ही पापात्मा हो और निश्चय ही उत्कृष्ट नरकस्थिति को प्राप्त करने वाला हो, किंतु वह भी वीतराग के उपदेश द्वारा उसी भव में मुक्तिलाभ कर सकता है ।
२४. धर्म भावमंगल है, इसी से आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है ।
२५. हिंसा का प्रतिपक्ष—अहिंसा है ।
२६. एकांत नित्यवाद के अनुसार सुख-दुःख का संयोग संगत नहीं बैठता और एकांत उच्छेदवाद = अनित्यवाद के अनुसार भी सुख-दुःख की बात उपयुक्त नहीं होती । अतः नित्यानित्यवाद ही इसका सही समाधान कर सकता है ।
२७. शब्द आदि विषय आत्मा को धर्म से उत्क्रमण करा देते हैं, दूर हटा देते हैं, अतः इन्हें 'काम' कहा है ।
२८. मिथ्यादृष्टि अज्ञानी—चाहे वह साधु के वेष में हो या गृहस्थ के वेष में, उसका कथन 'अकथा' कहा जाता है ।

तप संयम आदि गुणों से युक्त मुनि सद्भावमूलक सर्व जग-जीवों के हित के लिये जो कथन करते हैं, उसे 'कथा' कहा गया है ।

जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ ।
सा उ विकहा पवयणे, पणत्ता धीरपुरिसेहिं ॥

—दशबै० नि० २०९-१०-११

२९. जीवाहारो भण्णइ आयारो ।

—दशबै० नि० २१५

३०. धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता ।

जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा ॥

—दशबै० नि० २६२

३१. जिणवयणंमि परिणए, अवत्थविहिआणुठाणओ धम्मो ।

१सच्छासयप्पयोगा अत्थो, वीसंभओ^२ कामो ॥

—दशबै० नि० २६४

३२. वयणविभत्तिअकुसलो, वओगयं बहुविहं अयाणंतो ।

जइ वि न भासइ किंची, न चेव वयगुत्तयं पत्तो ॥

वयणविभत्ती कुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो ।

दिवसं पि भासमाणो, तहावि वयगुत्तयं पत्तो ॥

—दशबै० नि० २९०-२९१

३३. सदेसु अ रूवेसु अ, गंधेसु रसेसु तह य फासेसु ।

न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदिअप्पणिही ।

—दशबै० नि० २९५

३४. जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदिआइं तवं चरंतस्स ।

सो हीरइ असहीणेहिं सारही व तुरंगेहिं ॥

—दशबै० नि० २९८

१. स्वच्छाशयप्रयोगाद् विशिष्टलोकतः, पुण्यबलाच्चार्यः ।

२. विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकरणतापेक्षो विश्रम्भेण कामः ॥

—इति हारिभद्रीया वृत्तिः ।

जो संयमी होते हुये भी प्रमत्त है, वह रागद्वेष के वशवर्ती होकर जो कथा करता है, उसे 'विकथा' कहा गया है ।

२९. तप-संयमरूप आचार का मूल आधार आत्मा (आत्मा में श्रद्धा) ही है ।
३०. धर्म, अर्थ, और काम को भले ही अन्य कोई परस्पर विरोधी मानते हों, किंतु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न=अविरोधी हैं ।
३१. अपनी अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छ आशय से प्रयुक्त अर्थ, विस्त्रंभयुक्त (मर्यादानुकूल वैवाहिक नियंत्रण से स्वीकृत) काम—जिन वाणी के अनुसार ये परस्पर अविरोधी हैं ।
३२. जो वचन-कला में अकुशल है, और वचन की मर्यादाओं से अनभिज्ञ है, वह कुछ भी न बोले, तब भी 'वचनगुप्त' नहीं हो सकता ।
जो वचन-कला में कुशल है और वचन की मर्यादा का जानकार है, वह दिनभर भाषण करता हुआ भी 'वचनगुप्त' कहलाता है ।
३३. शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रियनिग्रह प्रशस्त होता है ।
३४. जिस साधक की इन्द्रियाँ, कुमार्गगामिनी हो गई हैं, वह दुष्ट घोड़ों के वश में पड़े सारथि की तरह उत्पथ में भटक जाता है ।

३५. जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स ।
सो बालतवस्सी वि व गयण्हाणपरिस्समं कुणइ ॥
—दशवै० नि० ३००
३६. सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति ।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व निप्फलं तस्स सामन्नं ॥
—दशवै० नि० ३०१
३७. खंतो अ मद्दवऽज्जव विमुत्तया तह अदीणय तित्तिक्खा ।
आवस्सगपरिसुद्धी अ होंति भिक्खुस्स लिंगाइं ॥
—दशवै० नि० ३४९
३८. जो भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू ।
वण्णेण जुत्तिसुवण्णगं व असइ गुणनिहिम्मि ॥
—दशवै० नि० ३५६
३९. जह दीवा दीवसयं, पईप्पए सो य दिप्पए दीवो ।
दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥
—उत्तराध्ययन नियुक्ति, ८
४०. जावइया ओदइया सव्वो सो बाहिरो जोगो ।
—उत्त० नि० ५२
४१. आयरियस्स वि सीसो सव्वे हि वि गुणेहिं ।
—उत्त० नि० ५८
४२. सुहिओ हु जणो न बुज्झई ।
—उत्त० नि० १३५
४३. राइसरिसवमित्ताणि, परच्छिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतो वि न पाससि ।
—उत्त० नि० १४०
४४. मज्जं विसय कसाया निहा विगहा य पंचमी भणिया ।
इअ पंचविहो एसो होई पमाओ य अप्पमाओ ॥
—उत्त० नि० १८०

३५. जिस तपस्वी ने कषायों को निगृहीत नहीं किया, वह बाल तपस्वी है। उसके तपरूप में किये गए सब कायकष्ट गजस्नान की तरह व्यर्थ हैं।
३६. श्रमण धर्म का अनुचरण करते हुए भी जिसके क्रोध आदि कषाय उत्कट हैं, तो उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है, जैसा कि ईख का फूल।
३७. क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि—ये सब भिक्षु के वास्तविक चिन्ह हैं।
३८. जो भिक्षु गुणहीन है, वह भिक्षावृत्ति करने पर भी भिक्षु नहीं कहला सकता। सोने का झोल चढ़ा देने भर से पीतल आदि सोना तो नहीं हो सकता !
३९. जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशमान होता हुआ अपने स्पर्श से अन्य सैंकड़ों दीपक जला देता है, उसी प्रकार सदगुरु—आचार्य स्वयं ज्ञान ज्योति से प्रकाशित होते हैं एवं दूसरों को भी प्रकाशमान करते हैं।
४०. कर्मोदय से प्राप्त होने वाली जीवन की जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सब बाह्य भाव हैं।
४१. यदि शिष्य गुणसंपन्न है, तो वह अपने आचार्य के समकक्ष माना जाता है।
४२. सुखी मनुष्य प्रायः जल्दी नहीं जग पाता।
४३. दुर्जन दूसरों के राई और सरसों जितने दोष भी देखता रहता है, किंतु अपने बिल्ब (बेल) जितने बड़े दोषों को देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है।
४४. मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा (अर्थहीन रागद्वेषवर्द्धक वार्ता) यह पांच प्रकार का प्रमाद है। इन से विरक्त होना ही अप्रमाद है।

४५. भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ ।
—उत्त० नि० २६३
४६. अहिअत्थं निवारितो, न दोसं वत्तुमरिहसि ।
—उत्त० नि० २७९
४७. भद्दएणेव होअव्वं पावइ भद्दाणि भद्दओ ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुंडो तत्थ मुच्चइ ।
—उत्त० नि० ३२६
४८. जो भिंदेइ खुहं खलु, सो भिक्खू भावओ होइ ।
—उत्त० नि० ३७५
४९. नाणी संजमसहिओ नायव्वो भावओ समणो ।
—उत्त० नि० ३८९
५०. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
—आवश्यक निर्युवित ९२
५१. वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णवं तरिउं ।
—आव० नि० ९५
५२. निउणो वि जीवपोओ, तवसंजममारुअविहूणो ।
—आव० नि० ९६
५३. चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो ।
—आव० नि० ९७
५४. सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥
—आव० नि० ९८
५५. अप्पं पि सुयमहीयं, पयासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ ॥
—आव० नि० ९९

४५. हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भाव प्रव्रज्या है ।
४६. बुराई को दूर करने की दृष्टि से यदि आलोचना की जाए, तो कोई दोष नहीं है ।
४७. मनुष्य को भद्र (सरल) होना चाहिए, भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है । विषधर सांप ही मारा जाता है, निर्विष को कोई नहीं मारता ।
४८. जो मन की भूख (तृष्णा) का भेदन करता है, वही भाव रूप में भिक्षु है ।
४९. जो ज्ञानपूर्वक संयम की साधना में रत है, वही भाव (सच्चा) श्रमण है ।
५०. तीर्थंकर की वाणी अर्थ (भाव) रूप होती है और निपुण गणधर उसे सूत्र-बद्ध करते हैं ।
५१. अच्छे से अच्छा जलयान भी हवा के बिना महासागर को पार नहीं कर सकता ।
५२. शास्त्रज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयम रूप पवन के बिना संसार सागर को तैर नहीं सकता ।
५३. जो साधक चरित्र के गुण से हीन है, वह बहुत से शास्त्र पढ़ लेने पर भी संसार समुद्र में डूब जाता है ।
५४. शास्त्रों का बहुत-सा अध्ययन भी चरित्र-हीन के लिए किस काम का ? क्या करोड़ों दीपक जला देने पर भी अंधे को कोई प्रकाश मिल सकता है ?
५५. शास्त्र का थोड़ा-सा अध्ययन भी सच्चरित्र साधक के लिए प्रकाश देने वाला होता है । जिसकी आँखें खुली हैं, उसको एक दीपक भी काफी प्रकाश दे देता है ।

५६. जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सोग्गईए ॥
—आव० नि० १००
५७. हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ॥
—आव० नि० १०१
५८. संजोगसिद्धीइ फलं वयंति,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ।
—आव० नि० १०२
५९. पाणं पयासगं, सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥
—आव० नि० १०३
६०. केवलियनाणलंभो, नत्तत्थ खए कसायाणं ।
—आम० नि० १०४
६१. अणथोवं वणथोवं अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
ण हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु ते बहु होइ ॥
—आव० नि० १२०
६२. तित्थप्पणामं काउं, कहेइ साहारणेण सट्ठेणं ।
—आव० नि० ५६७
६३. भासंतो होइ जेट्ठो, नो परियाएण तो वन्दे ।
—आव० नि० ७०४
६४. सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
—आव० नि० ८०२

५६. चंदन का भार उठाने वाला गधा सिर्फ भार ढोने वाला है। उसे चंदन की सुगंध का कोई पता नहीं चलता। इसी प्रकार चरित्र-हीन ज्ञानी सिर्फ ज्ञान का भार ढोता है, उसे सद्गति प्राप्त नहीं होती।
५७. आचार-हीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान-हीन आचार। जैसे वन में अग्नि लगने पर पंगु उसे देखता हुआ और अंधा दौड़ता हुआ भी आग से बच नहीं पाता, जलकर नष्ट हो जाता है।
५८. संयोगसिद्धि (ज्ञान-क्रिया का संयोग) ही फलदायी (मोक्ष रूप फल देने वाला) होता है। एक पहिए से कभी रथ नहीं चलता। जैसे अंध और पंगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर में सुरक्षित पहुँच गए, इसी प्रकार साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति-लाभ करता है।
५९. ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप विशुद्धि एवं संयम पापों का निरोध करता है। तीनों के समयोग से ही मोक्ष होता है— यही जिनशासन का कथन है।
६०. क्रोधादि कषायों को क्षय किए बिना केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती।
६१. ऋण, व्रण (घाव), अग्नि और कषाय—यदि इनका थोड़ा-सा अंश भी है, तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ये अल्प भी समय पर बहुत (विस्तृत) हो जाते हैं।
६२. तीर्थकर देव प्रथम तीर्थ (उपस्थित संघ) को प्रणाम करके फिर जन-कल्याण के लिए लोकभाषा में उपदेश करते हैं।
६३. शास्त्र का प्रवचन (व्याख्यान) करने वाला बड़ा है, दीक्षा-पर्याय से कोई बड़ा नहीं होता। अतः पर्यायज्येष्ठ भी अपने कनिष्ठ शास्त्र के व्याख्याता को नमस्कार करें।
६४. सामायिक की साधना करता हुआ श्रावक भी श्रमण के तुल्य हो जाता है।

६५. जो ण वि वट्टइ रागे, ण वि दोसे दोण्हमज्झयारंमि ।
सो होइ उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था ॥
—आव० नि० ८०४
६६. दिट्ठीय दो णया खलु, ववहारो निच्छओ चव ।
—आव० नि० ८१५
६७. ण कुणइ पारत्तहियं, सो सोयइ संकमणकाले ।
—आव० नि० ८३७
६८. तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चंचलं माणुसत्तं ।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥
—आव० नि० ८४१
६९. दव्वुज्जोउज्जोओ, पगासई परिमियम्मि खित्तंमि ।
भावुज्जोउज्जोओ, लोगालोगं पगासेइ ॥
—आव० नि० १०६९
७०. कोहंमि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं ।
लोहंमि उ निग्गहिए, तण्हावुच्छेअणं होइ ॥
—आव० नि० १०७४
७१. जियकोहमाणमाया, जियलोहा तेण ते जिणा हुंति ।
अरिणो हंता, रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥
—आव० नि० १०८३
७२. मिच्छत्तमोहणिज्जा, नाणावरणा चरित्तमोहाओ ।
तिविहत्तमा उम्मक्का, तम्हा ते उत्तमा हुंति ॥
—आव० नि० ११००
७३. जं तेहिं दायव्वं, तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
दंसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो ॥
—आव० नि० ११०३
७४. जह नाम महुरसलिलं सायरसलिलं कमेण संपत्तं ।
पावेइ लोणभावं, मेलणदोसाणुभावेणं ॥
एवं खु सीलवंतो, असीलवंतेहिं मीलिओ संतो ।
हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ ॥
—आव० नि० ११२७-२८

६५. जो न राग करता है, न द्वेष करता है, वही वस्तुतः मध्यस्थ है, बाकी सब अमध्यस्थ हैं ।
६६. जैन-दर्शन में दो नय (विचार-दृष्टियाँ) हैं— निश्चयनय और व्यवहार-नय ।
६७. जो इस जन्म में परलोक की हितसाधना नहीं करता, उसे मृत्यु के समय पछताना पड़ता है ।
६८. जो बड़ी मुश्किल से मिलता है, बिजली की चमक की तरह चंचल है, ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी जो धर्म साधना में प्रमत्त रहता है, वह कापुरुष (अधम पुरुष) ही है, सत्पुरुष नहीं ।
६९. सूर्य आदि का द्रव्य प्रकाश परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किंतु ज्ञान का प्रकाश तो समस्त लोकालोक को प्रकाशित करता है ।
७०. क्रोध का निग्रह करने से मानसिक दाह (जलन) शांत होती है, लोभ का निग्रह करने से तृष्णा शांत हो जाती है— इसलिए धर्म ही सच्चा तीर्थ है ।
७१. क्रोध, मान, माया और लोभ को विजय कर लेने के कारण 'जिन' कहलाते हैं । कर्मरूपी शत्रुओं का तथा कर्म रूप रज का हनन=नाश करने के कारण अरिहंत कहे जाते हैं ।
७२. मिथ्यात्व-मोह, ज्ञानावरण और चारित्र-मोह—ये तीन प्रकार के तम (अंधकार) हैं । जो इन तमों=अंधकारों से उन्मुक्त है, उसे उत्तम कहा जाता है ।
७३. सभी तीर्थंकरों ने जो कुछ देने योग्य था, वह दे दिया है, वह समग्र दान यही है— दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश !
७४. जिस प्रकार मधुर जल, समुद्र के खारे जल के साथ मिलने पर खारा हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारी पुरुष दुराचारियों के संसर्ग में रहने के कारण दुराचार से दूषित हो जाता है ।

७५. न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती ।

—आव० नि० ११५१

७६. जाणंतोऽवि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥

—आव० नि० ११५४

७७. जह जह सुज्झइ सलिलं, तह तह रूवाइं पासई दिट्ठी ।
इय जह जह तत्तरुई, तह तह तत्तागमो होइ ॥

—आव० नि० ११६३

७८. सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमेऽवि धारेइ ।
इय सालंबणसेवा, धारेइ जइं असढभावं ॥

—आव० नि० ११८०

७९. जह दूओ रायाणं, णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा ।
वीसज्जिओ वि वंदिय, गच्छइ साहु वि एमेव ॥

—आव० नि० १२३४

८०. अइनिद्धेण विसया उइज्जति ।

—आव० नि० १२६३

८१. थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिद्दो य ।
थोवोवहि-उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥

—आव० नि० १२६५

८२. चित्तस्सेगगया ह्वइ ज्ञाणं ।

—आव० नि० १४५९

८३. अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी ।
दुक्ख-परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥

—आव० नि० १५४७

७५. जान लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती ।
७६. तैरना जानते हुए भी यदि कोई जलप्रवाह में कूद कर कायचेष्टा न करे, हाथ पाँव हिलाए नहीं, तो वह प्रवाह में डूब जाता है । धर्म को जानते हुए भी यदि कोई उस पर आचरण न करे, तो वह संसारसागर को कैसे तैर सकेगा ?
७७. जल ज्यों-ज्यों स्वच्छ होता है त्यों-त्यों द्रष्टा उसमें प्रतिबिम्बित रूपों को स्पष्टतया देखने लगता है । इसी प्रकार अन्तर में ज्यों-ज्यों तत्त्व रुचि जाग्रत होती है, त्यों-त्यों आत्मा तत्त्वज्ञान प्राप्त करता जाता है ।
७८. किसी आलंबन के सहारे दुर्गम गर्त आदि में नीचे उतरता हुआ व्यक्ति अपने को सुरक्षित रख सकता है । इसी प्रकार ज्ञानादिवर्धक किसी विशिष्ट हेतु का आलंबन लेकर अपवाद मार्ग में उतरता हुआ सरलात्मा साधक भी अपने को दोष से बचाए रख सकता है ।
७९. दूत जिस प्रकार राजा आदि के समक्ष निवेदन करने से पहले भी और पीछे भी नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य को भी गुरुजनों के समक्ष जाते और आते समय नमस्कार करना चाहिए ।
८०. अतिस्निग्ध आहार करने से विषय कामना उद्दीप्त हो उठती है ।
८१. जो साधक थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींद लेता है और थोड़ी ही धर्मोपकरण की सामग्री रखता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।
८२. किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर=एकाग्र करना, ध्यान है ।
८३. 'यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है ।' साधक इस तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुःख एवं क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग करे ।

८४. जे जत्तिआ अ हेउं भवस्स, ते चेव तत्तिआ मुखे ।
—ओघनिर्युक्ति ५३
८५. इरिआवहमाईआ, जे चेव हवन्ति कम्मबंधाय ।
अजयाणं ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय ॥
—ओघ० नि० ५४
८६. एगंतेण निसेहो, जोगेसु न देसिओ विही वाऽवि ।
दलिअं पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे ॥
—ओघ० नि० ५५
८७. अणुमित्तो वि न कस्सई, बंधो परवत्थुपच्चओ भणिओ ।
—ओघ० नि० ५७
८८. मुत्तनिरोहेण चक्खू, वच्चनिरोहेण जीवियं चयइ ।
—ओघ० नि० १९७
८९. हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥
—ओघ० नि० ५७८
९०. अतिरेगं अहिगरणं ।
—ओघ० नि० ७४१
९१. अज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो ।
अपरिग्गही त्ति भणिओ, जिणेहि तेलोक्कदरिसीहि ॥
—ओघ० नि० ७४५
९२. अज्झत्थ विसोहीए, जीवनिकाएहिं संथडे लोए ।
देसियमहिसगत्तं, जिणेहि तेलोक्कदरिसीहि ॥
—ओघ० नि० ७४७
९३. उच्चालियंमि पाए,
इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जेज्ज कुलिगी,
मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥

८४. जो और जितने हेतु संसार के हैं, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं ।
८५. जो ईर्यापथिक (गमनागमन) आदि क्रियाएँ असंयत के लिए कर्मबंध का कारण होती हैं, वे ही यतनाशील संयत से लिए मुक्ति का कारण बन जाती हैं ।
८६. जिन शासन में एकांत रूप से किसी क्रिया का न तो निषेध है और न विधान ही है । परिस्थिति को देखकर ही उनका निषेध या विधान किया जाता है, जैसा कि रोग में चिकित्सा के लिए ।
८७. बाह्य वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्मबंध नहीं होता । (कर्मबंध अपनी भावना के आधार पर ही होता है) ।
८८. अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से आँखें नष्ट हो जाती हैं और तीव्र मल-वेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है ।
८९. जो मनुष्य हिताहारी हैं, मिताहारी हैं और अल्पाहारी हैं, उन्हें किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने की आवश्यकता नहीं । वे स्वयं ही अपने वैद्य हैं, चिकित्सक हैं ।
९०. आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) अधिकरण ही (क्लेशप्रद एवं दोषरूप) हो जाते हैं ।
९१. जो साधक बाह्य उपकरणों को अध्यात्म विशुद्धि के लिए धारण करता है, उसे त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों ने अपरिग्रही ही कहा है ।
९२. त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवों का कथन है कि अनेकानेक जीवनसमूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर् में अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं ।
९३. कभी-कभार ईर्यासमित से गतिशील साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दब कर मर भी जाते हैं—

न य तस्स तन्निमित्तो,
 बंधो सुद्धमो वि देसिओ समए ।
 अणवज्जो उ पओगेण,
 सब्बभावेण सो जम्हा ॥

—ओघ० नि० ७४८-४९

९४. जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता ।
 वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ ॥
 जे वि न वावज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ ।
 सावज्जो उ पओगेण, सब्बभावेण सो जम्हा ॥

—ओघ० नि० ७५२-५३

९५. आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एसो ।
 जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥

—ओघ० नि० ७५४

९६. न य हिंसामेत्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होइ ।
 सुद्धस्स उ संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं ॥

—ओघ० नि० ७५८

९७. जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिंसमग्गस्स ।
 सा होइ निज्जरफला, अज्जत्थविसोहिजुत्तस्स ॥

—ओघ० नि० ७५९

९८. निच्छयमवलंबंता, निच्छयतो निच्छयं अयाणंता ।
 नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केइ ॥

—ओघ० नि० ७६१

९९. सुचिरं पि अच्छमाणो,
 वेरुलिओ कायमणिओमीसे ।
 न य उवेइ कायभावं,
 पाहन्नगुणेण नियएण ॥

—ओघ० नि० ७७२

परंतु उक्त हिंसा के निमित्त से उस साधु को सिद्धान्त में सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नहीं बताया है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन उस हिंसा-व्यापार से निलिप्त होने के कारण अनवद्य = निष्पाप है ।

९४. जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है ।
परन्तु जो प्राणी नहीं मारे गये हैं, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है; क्यों कि वह अन्तर में सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति के कारण सविद्य है, पापात्मा है ।
९५. निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा । जो प्रमत्त है, वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है, वह अहिंसक ।
९६. केवल बाहर में दृश्यमान पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता । यदि साधक अन्दर में राग द्वेष से रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवों ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबंध का हेतु न होने से निष्फल बताया है ।
९७. जो यतनावान् साधक अन्तरंग-विशुद्धि से युक्त है, और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराघना (हिंसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है ।
९८. जो निश्चयदृष्टि के आलम्बन का आग्रह तो रखते हैं, परन्तु वस्तुतः उसके सम्बन्ध में कुछ जानते-बूझते नहीं हैं । वे सदाचार की व्यवहार-साधना के प्रति उदासीन हो जाते हैं, और इस प्रकार सदाचार को ही मूलतः नष्ट कर डालते हैं ।
९९. वैडूर्यरत्न काच की मणियों में कितने ही लम्बे समय तक क्यों न मिला रहे, वह अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण रत्न ही रहता है, कभी काच नहीं होता । (सदाचारी उत्तम पुरुष का जीवन भी ऐसा ही होता है ।)

१००. जह बालो जंपतो,
कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा,
मायामयविप्पमुक्को उ ॥

--ओघ० नि० ८०१

१०१. उद्धरिय सव्वसल्लो,
आलोइय निदिओ गुरुसगासे ।
होइ अतिरेगलहुओ,
ओहरियभरो व्व भारवहो ॥

--ओघ० नि० ८०६



१००. बालक जो भी सचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरल भाव से कह देता है। इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दंभ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचन करना चाहिए।

१०१. जो साधक गुरुजनों के समस्त मन के शल्यों (कांटों) को निकाल कर आलोचना, निंदा (आत्मनिंदा) करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हलकी हो जाती है, जैसे शिर का भार उतार देने पर भारवाहक।



आचार्य कुन्दकुन्द की सूक्तियाँ



१. तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ।
समयसार, ८
२. भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।
समय० ११
३. ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदापि एकट्ठो ॥
—समय० २७
४. णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि,
रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते,
ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥
—समय० ३०
५. उवओग एव अहमिक्को ।
—समय० ३७
६. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदा रूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥
—समय० ३८

आचार्य कुन्दकुन्द की सूक्तियाँ



१. व्यवहार (नय) के बिना परमार्थ (शुद्ध आत्म-तत्त्व) का उपदेश करना अशक्य है ।
२. जो भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ—शुद्ध दृष्टि का अवलम्बन करता है, वही सम्यग्दृष्टि है ।
३. व्यवहार नय से जीव (आत्मा) और देह एक प्रतीत होते हैं, किंतु निश्चय दृष्टि से दोनों भिन्न हैं, कदापि एक नहीं हैं ।
४. जिस प्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के गुणों का वर्णन करने से शुद्धात्मस्वरूप केवलज्ञानी के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता ।
५. मैं (आत्मा) एक मात्र उपयोगमय = ज्ञानमय हूँ ।
६. आत्म-द्रष्टा विचार करता है कि— “मैं तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप, सदा काल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूँ । परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है ।”

७. णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करोदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥
—समय० ८३
८. अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ।
—समय० ९२
९. कम्ममसुहं कुसीलं,
सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं,
जं संसारं पवेसेदि ॥
—समय० १४५
१०. रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
—समय० १५०
११. वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विदंति ॥
—समय० १५३
१२. जह कणयमग्गितवियं पि,
कणयभावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयत्तविदो,
ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥
—समय० १८४
१३. पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फलं बज्जए पुणो विटे ।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥
—समय० १६८
१४. सुद्धं तु वियाणंतो, सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं, असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥
—समय० १८६
१५. जं कुणदि सम्मदिट्ठी, तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।
—समय० १९३

७. निश्चय दृष्टि से तो आत्मा अपने को ही करता है, और अपने को ही भोगता है ।
८. अज्ञानी आत्मा ही कर्मों का कर्ता होता है ।
९. अशुभ कर्म बुरा (कुशील) और शुभ कर्म अच्छा (सुशील) है, यह साधारण जन मानते हैं । किंतु वस्तुतः जो कर्म प्राणी को संसार में परिभ्रमण कराता है, वह अच्छा कैसे हो सकता है ? अर्थात् शुभ या अशुभ सभी कर्म अन्ततः हेय ही हैं ।
१०. जीव रागयुक्त होकर कर्म बांधता है और विरक्त होकर कर्मों से मुक्त होता है ।
११. भले ही व्रत नियम को धारण करे, तप और शील का आचरण करे, किंतु जो परमार्थरूप आत्मबोध से शून्य है, वह कभी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता ।
१२. जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही ज्ञानी भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते ।
१३. जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृत्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुनः आत्मा (वीतराग) को नहीं लग सकते ।
१४. जो अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है, वह शुद्ध भाव को प्राप्त करता है, और जो अशुद्ध रूप का अनुभव करता है, वह अशुद्ध भाव को प्राप्त होता है ।
१५. सम्यक् दृष्टि आत्मा जो कुछ भी करता है, वह उसके कर्मों की निर्जरा के लिए ही होता है ।

१६. जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पुगलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ॥

—समय० १९५

१७. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई ।

—समय० १९७

१८. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो ।

—समय० २१२

१९. णाणी रागप्पजहो, सब्बदब्बेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्जे जहा कणयं ॥
अण्णाणी पुण रत्तो, सब्बदब्बेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरणेण दु, कद्दममज्जे जहा लोहं ॥

—समय० २१८-२१९

२०. जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

—समय० २५३

२१. ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।

—समय० २६५

२२. आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च ।

—समय० २७७

२३. कह सो चिप्पइ अप्पा ? पण्णाए सो उ चिप्पए अप्पा ।

—समय २९६

२४. जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि ।

—समय० ३०२

१६. जिस प्रकार वैद्य (औषध रूप में) विष खाता हुआ भी विष से मरता नहीं, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि आत्मा कर्मोदय के कारण सुख-दुःख का अनुभव करते हुए भी उनसे बद्ध नहीं होता ।
१७. ज्ञानी आत्मा (अंतर में रागादि का अभाव होने के कारण) विषयों का सेवन करता हुआ भी, सेवन नहीं करता । अज्ञानी आत्मा (अन्तर में रागादि का भाव होने के कारण) विषयों का सेवन नहीं करता हुआ भी, सेवन करता है ।
१८. वास्तव में अनिच्छा (इच्छामुक्ति) को ही अपरिग्रह कहा है ।
१९. जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता, उसे जंग नहीं लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी संसार के पदार्थसमूह में विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता ।
किंतु जिस प्रकार लोहा कीचड़ में पड़कर विकृत हो जाता है, उसे जंग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थों में राग भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है ।
२०. जो ऐसा मानता है कि “ मैं दूसरों को दुःखी या सुखी करता हूँ ”—वह वस्तुतः अज्ञानी है । ज्ञानी ऐसा कभी नहीं मानते ।
२१. कर्मबंध वस्तु से नहीं, राग और द्वेष के अध्यवसाय—संकल्प से होता है ।
२२. मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (ज्ञानरूप) है, दर्शन है और चारित्र्य है ।
२३. यह आत्मा किस प्रकार जाना जा सकता है ?
आत्मप्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान रूप बुद्धि से ही जाना जा सकता है ।
२४. जो किसी प्रकार का अपराध नहीं करता, वह निर्भय होकर जनपद में भ्रमण कर सकता है । इसी प्रकार निरपराध = निर्दोष आत्मा (पाप नहीं करने वाला) भी सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है ।

२५. ण मुयइ पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता, ण पण्णया णिव्विसा हंति ।
—समय० ३१७
२६. सत्थं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्थं ण याणए किञ्चि ।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विति ॥
—समय० ३१०
२७. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥
—प्रवचनसार ११७
२८. आदा धम्मो मूणेदव्वो ।
— प्रवचन० ११८
२९. जीवो परिणमदि जदा,
सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो,
हवदि हि परिणामसब्भावो ।
—प्रवचन० ११९
३०. णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
—प्रवचन० १११०
३१. समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।
—प्रवचन० १११४
३२. आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुट्ठं ।
णयं लोयालयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥
—प्रवचन० ११२३
३३. तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमाद्रा, विसया कि तत्थ कुव्वति ?
—प्रवचन० ११६७
३४. सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दियेहि लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥
—प्रवचन० ११७६

२५. अभव्य जीव चाहे कितने ही शास्त्रों का अध्ययन कर ले, किंतु फिर भी वह अपनी प्रकृति (स्वभाव) नहीं छोड़ता। सांप चाहे कितना ही गुड-दूध पी ले, किंतु अपना विषैला स्वभाव नहीं छोड़ता।
२६. शास्त्र, ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र स्वयं में कुछ नहीं जानता है। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है।
२७. चारित्र ही वास्तव में धर्म है, और जो धर्म है, वह समत्व है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है।
२८. आत्मा ही धर्म है, अर्थात् धर्म आत्मस्वरूप होता है।
२९. आत्मा परिणम स्वभाव वाला है, इसलिए जब वह शुभ या अशुभ भाव में परिणत होता है, तब वह शुभ या अशुभ हो जाता है। और, जब शुद्ध भाव में परिणत होता है, तब वह शुद्ध होता है।
३०. कोई भी पदार्थ विना परिणमन के नहीं रहता है, और परिणमन भी विना पदार्थ के नहीं होता है।
३१. जो सुख-दुख में समान भाव रखता है, वही वीतराग श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है।
३२. आत्मा ज्ञानप्रमाण (ज्ञान जितना) है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (ज्ञेय जितना) है, और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इस दृष्टि से ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है।
३३. जिसकी दृष्टि ही स्वयं अंधकार का नाश करने वाली है, उसे दीपक क्या प्रकाश देगा? इसी प्रकार जब आत्मा स्वयं सुख-रूप है, तो उसे विषय क्या सुख देंगे।
३४. जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण तथा विषम होने से वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है।

३५. किरिया हि णत्थि अफला, धम्मो जदि णिप्फलो परमो ।
 ---प्रवचन० २।२४
३६. असुहो मोह-पदोसो, सुहो व असुहो हवदि रागो ।
 ---प्रवचन० २।८८
३७. कीरदि अज्जवसाणं, अहं ममेदं ति मोहादो ।
 ---प्रवचन० २।९१
३८. मरदु व जियदु व जीवो,
 अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
 पयदस्स णत्थि बंधो,
 हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥
 ---प्रवचन० ३।१७
३९. चरदि जदं जदि णिच्चं, कमलं व जले णिसवलेवो ।
 ---प्रवचन० ३।१८
४०. ण हि णिरवेक्खो चागो,
 ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी ।
 अविसुद्धस्स हि चित्ते,
 कहं णु कम्मक्खओ होदि ॥
 ---प्रवचन० ३।२०
४१. इहलोगणिरावेक्खो,
 अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
 जुत्ताहार-विहारो,
 रहिदकसाओ हवे समणो ॥
 ---प्रवचन० ३।२६
४२. जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
 अणं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥
 ---प्रवचन० ३।२७
४३. आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं विद्याणादि ।
 ---प्रवचन० ३।३२

३५. संसार की कोई भी मोहात्मज क्रिया निष्फल (बंधनरहित) नहीं है, एक मात्र धर्म ही निष्फल है, अर्थात् स्व-स्वभाव रूप होने से बन्धन का हेतु नहीं है।
३६. मोह और द्वेष अशुभ ही होते हैं। राग शुभ और अशुभ दोनों होता है।
३७. मोह के कारण ही मैं और मेरे का विकल्प होता है।
३८. बाहर में प्राणी मरे या जीये, अयताचारी—प्रमत्त को अन्दर में हिंसा निश्चित है परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समिति-वाला है, उसको बाहर में प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मबन्ध नहीं है, अर्थात् वह हिंसा नहीं है।
३९. यदि साधक प्रत्येक कार्य यतना से करता है, तो वह जल में कमल की भांति निर्लेप रहता है।
४०. जब तक निरपेक्ष त्याग नहीं होता है, तब तक साधक की चित्तशुद्धि नहीं होती है और जब तक चित्तशुद्धि (उपयोग की निर्मलता) नहीं होती है, तब तक कर्मक्षय कैसे हो सकता है ?
४१. जो कषायरहित है, इस लोक से निरपेक्ष है, परलोक में भी अप्रतिबद्ध —अनासक्त है, और विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।
४२. परवस्तु की आसक्ति से रहित होना ही, आत्मा का निराहाररूप वास्तविक तप है। अस्तु, जो श्रमण भिक्षा में दोषरहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चय दृष्टि से अनाहार (तपस्वी) ही है।
४३. शास्त्रज्ञान से शून्य श्रमण न अपने को जान पाता है, न पर को।

४४. आगम चक्खू साहू,
इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
—प्रवचन० ३।३४
४५. जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥^१
—प्रवचन० ३।३८
४६. कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो ।
नियमसार १८
४७. जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
—नियम० ४७
४८. ज्ञाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु ज्ञाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥
—नियम० ९३
४९. केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चित्तए णाणी ।
—नियम० ९६
५०. आलंबणं च मे आदा ।
—नियम० ९९
५१. एगो मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥^२
—नियम० १०२
५२. सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झ न केणइ ।
—नियम० १०४
५३. कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
—नियम० ११०

१. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, १०१

२. आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक, २६

४४. अन्य सब प्राणी इंद्रियों की आँख वाले हैं, किन्तु साधक आगम की आँख वाला है ।
४५. अज्ञानी साधक बाल-तप के द्वारा लाखों-करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन, वचन, काया को संयत रखने वाला ज्ञानी साधक एक श्वास मात्र में खपा देता है ।
४६. आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता है, यह मात्र व्यवहार दृष्टि है ।
४७. जैसी शुद्ध आत्मा सिद्धों (मुक्त आत्माओं) की है, मूल स्वरूप से वैसी ही शुद्ध आत्मा संसारस्थ प्राणियों की है ।
४८. ध्यान में लीन हुआ साधक सब दोषों का निवारण कर सकता है । इसलिए ध्यान ही समग्र अतिचारों (दोषों) प्रतिक्रमण है ।
४९. "मैं केवल शक्तिस्वरूप हूँ" ज्ञानी ऐसा चिंतन करे ।
५०. मेरा अपना आत्मा ही मेरा अपना एकमात्र आलंबन है ।
५१. ज्ञान-दर्शन स्वरूप मेरा आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, इससे भिन्न जितने भी (राग, द्वेष, कर्म, शरीर आदि) भाव हैं, वे सब संयोगजन्य बाह्य भाव हैं, अतः वे मेरे नहीं हैं ।
५२. सब प्राणियों के प्रति मेरा एक जैसा समभाव है, किसीसे मेरा वैर नहीं है ।
५३. कर्मवृक्ष के मूल को काटने वाला आत्मा का अपना ही निजभाव (समत्व) है ।

५४. जो ज्ञायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ।
—नियम० १२३
५५. अन्तर-बाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥
—नियम० १५०
५६. अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो न संदेहो ।
—नियम० १७१
५७. दव्वं सल्लक्खणयं, उपादव्वयधुवत्ततंजुत्तं ।
—पंचास्तिकाय १०
५८. दव्वेण विणा न गुणा, गुणेहि दव्वं विणा न संभवदि ।
—पंचास्ति० १३
५९. भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
—पंचास्ति० १५
६०. चारित्तं समभावो ।
—पंचास्ति० १०७
६१. सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ।
—पंचास्ति० १३२
६२. रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तमिह णत्थि कलुसं, पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥
—पंचास्ति० १३५
६३. चरिया पमादबहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि ॥
—पंचास्ति० १३९
६४. जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सब्बदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥
—पंचास्ति० १४२

५४. जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि की प्राप्ति होती है ।
५५. जो अन्दर एवं बाहिर के जल्प (वचनविकल्प) में रहता है, वह बहिरात्मा है, और जो किसी भी जल्प में नहीं रहता, वह अन्तरात्मा कहलाता है ।
५६. यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना आत्मा नहीं ।
५७. द्रव्य का लक्षण सत् है, और वह सदा उत्पाद्, व्यय एवं ध्रुवत्व भाव से युक्त होता है ।
५८. द्रव्य के बिना गुण नहीं होते हैं और गुण के बिना द्रव्य नहीं होते ।
५९. भाव (सत्) का कभी नाश नहीं होता और अभाव (असत्) का कभी उत्पाद (जन्म) नहीं होता ।
६०. समभाव ही चारित्र्य है ।
६१. आत्मा का शुभ परिणाम (भाव) पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है ।
६२. जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर में अनुकंपा की वृत्ति है और मन में कलुष भाव नहीं है, उस जीव को पुण्य का आस्रव होता है ।
६३. प्रमादबहुल चर्या, मन की कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, पर-परिताप (परपीडा) और परनिंदा—इनसे पाप का आस्रव (आगमन) होता है ।
६४. जिस साधक का किसी भी द्रव्य के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, उसे न पुण्य का आश्रव होता है और न पाप का ।

एक सो सत्तर

सूक्ति त्रिवेणी

६५. दंसणमूलो धम्मो ।

—दर्शन पाहुड, २

६६. दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।

—दर्शन० २

६७. तस्स य दोस कहंता, भग्गा भग्गतणं दिति ।

—दर्शन० ९

६८. मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ।

—दर्शन० १०

६९. अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।

—दर्शन० २०

७०. सीवाणं पढम मोक्खस्स ।

—दर्शन० २१

७१. णाणं णरस्स सारो ।

—दर्शन० ३१

७२. हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्धिठी ।

—सूत्रपाहुड ५

७३. गाहेण अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल-अत्थेण ।

—सूत्र० २७

७४. जं देइ दिक्ख सिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा ।

—बोध पाहुड १६

७५. धम्मो दयाविसुद्धो ।

—बोध० २५

७६. तणकणए समभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया ।

—बोध० ४७

६५. धर्म का मूल दर्शन—(सम्यक्श्रद्धा) है ।
६६. जो दर्शन से हीन— (सम्यक्-श्रद्धा से रहित, या पतित) है, वह बन्दनीय नहीं है ।
६७. धर्मात्मा पुरुष के प्रति मिथ्या दोष का आरोप करने वाला, स्वयं भी भ्रष्ट-पतित होता है और दूसरों को भी भ्रष्ट-पतित करता है ।
६८. सम्यक्त्व रूप मूल के नष्ट हो जाने पर मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं होती ।
६९. निश्चय दृष्टि से आत्मा ही सम्यक्त्व है ।
७०. सम्यक् दर्शन (सम्यक्-श्रद्धा) मोक्ष की पहली सीढ़ी है ।
७१. ज्ञान मनुष्य-जीवन का सार है ।
७२. जो हेय और उपादेय को जानता है, वही वास्तव में सम्यक्-दृष्टि है ।
७३. ग्राह्य वस्तु में से भी अल्प (आवश्यकतानुसार) ही ग्रहण करना चाहिए । जैसे समुद्र के अथाह जल में से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प ही जल ग्रहण किया जाता है ।
७४. आचार्य वह हैं—जो कर्म को क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है ।
७५. जिसमें दया की पवित्रता है, वही धर्म है ।
७६. तृण और कनक (सोना) में जब समान बुद्धि रहती है तभी उसे प्रब्रज्या (दीक्षा) कहा जाता है ।

७७. जह णवि लहदि हु लक्खं,
रहियो कंडस्स वेज्जयविहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्खं,
अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥
—बोध० २१
७८. भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा विति ।
—भाव पाहुड २
७९. भावरहियो न सिज्जइ ।
—भाव० ४
८०. बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।
—भाव० १३
८१. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी ह्वेइ फुडु जीवो ।
—भाव० ३१
८२. दुज्जणवयणचडक्कं, णिट्ठुर कडुयं सहंति सप्पुरिसा ।
—भाव० १०७
८३. परिणामादो बंधो, मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।
—भाव० ११६
८४. छिंदंति भावसमणा, ज्ञाणकुठारेहि भवरूक्खं ।
—भाव० १२२
८५. तह रायानिलरहियो, ज्ञाणपईवो वि पज्जलई ।
—भाव० १२३
८६. उत्थरइ जा ण जरओ, रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इन्दियबलं न वियलइ, ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥
—भाव० १३२
८७. जीवविमुक्को सवओ, दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥
—भाव० १४३

७७. जिस प्रकार धनुर्धर बाण के बिना लक्ष्यवेध नहीं कर सकता है, उसी प्रकार साधक भी बिना ज्ञानके मोक्ष के लक्ष्यको नहीं प्राप्त कर सकता ।
७८. गुण और दोष के उत्पन्न होने का कारण भाव ही है ।
७९. भाव (भावना) से शून्य मनुष्य कभी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ।
८०. जिस के आभ्यन्तर में ग्रन्थि (परिग्रह) है, उसका बाह्य त्याग व्यर्थ है ।
८१. जो आत्मा, आत्मा में लीन है, वही वस्तुतः सम्यक् दृष्टि है ।
८२. सज्जन पुरुष, दुर्जनों के निष्ठुर और कठोर वचन रूप घपेटों को भी समभाव पूर्वक सहन करते हैं ।
८३. परिणाम (भाव) से ही बंधन और परिणाम से ही मोक्ष होता है, ऐसा जिनशासन का कथन है ।
८४. जो भाव से श्रमण हैं, वे ध्यानरूप कुठार से भव-वृक्ष को काट डालते हैं ।
८५. हवा से रहित स्थान में जैसे दीपक निर्विघ्न जलता रहता है, वैसे ही राग की वायु से मुक्त रहकर (आत्ममंदिर में) ध्यान का दीपक सदा प्रज्वलित रहता है ।
८६. जब तक बुढापा आक्रमण नहीं करता है, रोगरूपी अग्नि देह रूपी झौपडी को जलाती नहीं है, इन्द्रियों की शक्ति विगलित-क्षीण नहीं होती है, तब आत्म-हित के लिए प्रयत्न कर लो ।
८७. जीव से रहित शरीर शव (मुर्दा-लाश) है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता 'शव' है । शव लोक में अनादरणीय (त्याज्य) होता है, और वह चलशव लोकोत्तर अर्थात् धर्म-साधना के क्षेत्र में अनादरणीय और त्याज्य रहता है ।

८८. अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुडं ।
—भाव० १५१
८९. दुक्खे णज्जइ अप्पा ।
—मोक्ष पाहुड ६५
९०. तिपयारो सो अप्पा, परमंतरबाहिरो दु हेऊणं ।
—मोक्ष० ४
९१. अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।
—मोक्ष० ५
९२. जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जगए सकज्जम्मि ।
जो जगदि ववहारे, सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥
—मोक्ष० ३१
९३. आदाहु मे सरणं ।
—मोक्ष० १०५
९४. सीलेण विणा विसया, णाणं विणासंति ।
—शील पाहुड २
९५. णाणं चरित्तसुद्धं...थोओ पि महाफलो होई ।
—शील० ६
९६. सीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसं जम्म ।
—शील० १५
९७. जीवदया दम सच्चं, अचोरियं बंभचेर संतोसे ।
सम्मदंसण-णाणे, तओ य सीलस्स परिवारो ।
—शील० १९
९८. सीलं मोक्खस्स सोवाणं ।
—शील० २०
९९. सीलं विसयविरागो ।
—शील० ४०



८८. आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है ।
८९. आत्मा बड़ी कठिनता से जाना जाता है ।
९०. आत्मा के तीन प्रकार हैं—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा । (इनमें बहिरात्मा से अन्तरात्मा, और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ें) ।
९१. इन्द्रियों में आसक्ति बहिरात्मा है, और अन्तरंग में आत्मानुभव रूप आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है ।
९२. जो व्यवहार (संसार) के कार्यों में मोता (उदासीन) है, वह योगी स्वकार्य में जागता (सावधान) है । और जो व्यवहार के कार्यों में जागता है, वह आत्मकार्यों में सोता है ।
९३. आत्मा ही मेरा शरण है ।
९४. शील (आचार) के बिना इन्द्रियों के विषय, ज्ञान को नष्ट कर देते हैं ।
९५. चारित्र्य से विशुद्ध हुआ ज्ञान यदि अल्प भी है, तब भी वह महान फल देने वाला है ।
९६. शीलगुण से रहित व्यक्ति का मनुष्य जन्म पाना निरर्थक ही है ।
९७. जीवदया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और तप—यह सब शील का परिवार है । अर्थात् शील के अंग हैं ।
९८. शील (सदाचार) मोक्ष का सोपान है ।
९९. इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहना, शील है ।



भाष्यसाहित्य की सूक्तियाँ

१. गुणसुट्ठयस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य २४५

२. को कल्लाणं निच्छइ ।

—बृह० भा० २४७

३. जो उत्तमेहिं पहओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।

—बृह० भा० २४९

४. जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव ॥

—बृह० भा० ३२२

५. अंबत्तणेण जीहाइ कूइया होइ खीरमुदगम्मि ।
हंसो मोत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो ॥

—बृह० भा० ३४७

६. मसगो व्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुब्भइ कुसीसो वि ।

—बृह० भा० ३५०

७. अद्दागसमो साहू ।

—बृह० भा० ८१२

भाष्यसाहित्य की सूक्तियाँ



१. गुणवान् व्यक्ति का वचन धृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी होता है, जब कि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेह-रहित (तैलशून्य) दीपक की तरह तेज और प्रकाश से शून्य होता है ।
२. संसार में कौन ऐसा है, जो अपना कल्याण न चाहता हो ?
३. जो मार्ग महापुरुषों द्वारा चलकर प्रहृत = सरल बना दिया गया है, वह अन्य सामान्य जनों के लिए दुर्गम नहीं रहता ।
४. जितने उत्सर्ग (निषेध-वचन) हैं, उतने ही उनके अपवाद (विधि-वचन) भी हैं । और जितने अपवाद हैं, उतने ही उत्सर्ग भी हैं ।
५. हंस जिस प्रकार अपनी जिह्वा की अम्लता-शक्ति के द्वारा जलमिश्रित दूध में से जल को छोड़कर दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सुशिष्य दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करता है ।
६. जो कुशिष्य गुरु को जाति आदि की निन्दा द्वारा, मच्छर की तरह हर समय तंग करता रहता है, वह मच्छर की तरह ही भगा दिया जाता है ।
७. साधु को दर्पण के समान निर्मल होना चाहिए ।

८. पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परमं ।
 --बृह० भा० ८१४
९. रज्जं विलुत्तसारं जह, तह गच्छो वि निस्सारो ।
 --बृह० भा० ९३७
१०. जह ष्हाउत्तिण्ण गओ, बहुअतरं रेणुयं छुभइ अंगे ।
 सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं च्चिणइ ।
 --बृह० भा० ११४७
११. न वि अत्थि न वि अ होही, सज्जाय समं तवोकम्मं ।
 --बृह० भा० ११६९
१२. जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।
 जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥
 --बृह० भा० १२२४
१३. कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ?
 कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥
 --बृह० भा० १२४५
१४. सुक्किधणम्मि दिप्पइ अग्गी, मेहरहिओ ससी भाइ ।
 तव्विहजणे य निउणे, विज्जा पुरिसा वि भायंति ॥
 --बृह० भा० १२४७
१५. को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्वाइणो दमए ।
 दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ तं आसियं विति ॥
 --बृह० भा० १२७५
१६. माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुव्वइ ।
 --बृह० भा० १३०२
१७. काउं च नाणुत्तप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ।
 --बृह० भा० १३१९

८. पाप कर्म न करना ही वस्तुतः परम मंगल है ।
९. राजा के द्वारा ठीक तरह से देख-भाल किए बिना जैसे कि राज्य ऐश्वर्य-हीन हो जाता है, वैसे ही आचार्य के द्वारा ठीक तरह से संभाल किए बिना संघ भी श्रीहीन हो जाता है ।
१०. जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर बहुत-सी धूल अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल संचय करता जाता है ।
११. स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कभी हुआ, न वर्तमान में कहीं है, और न भविष्य में कभी होगा ।
१२. शास्त्र का बार-बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उसके अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसे ही अप्रत्यक्ष रहता है, जैसा कि जन्मांध के समक्ष चंद्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है ।
१३. अग्नि कहाँ नहीं जलती है ? चन्द्रमा कहाँ नहीं प्रकाश करता है ? और श्रेष्ठ लक्षणों (गुणों) से युक्त सत्पुरुष कहाँ नहीं प्रतिष्ठा पाते हैं ? अर्थात् सर्वत्र पाते हैं ।
१४. सूखे ईंधन में अग्नि प्रज्वलित होती है, बादलों से रहित स्वच्छ आकाश में चन्द्र प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चतुर लोगों में विद्वान् शोभा (यश) पाते हैं ।
१५. उस आश्विक (घुड़ सवार) का क्या महत्त्व है, जो सीधे-सादे घोड़ों को काबू में करता है ? वास्तव में घुड़सवार तो उसे कहा जाता है, जो दुष्ट (अड़ियल) घोड़ों को भी काबू में किए चलता है ।
१६. जो मायावी है, और सत्पुरुषों की निंदा करता है, वह अपने लिए किल्बिषिक भावना (पापयोनि की स्थिति) पैदा करता है ।
१७. अपने द्वारा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचने पर भी, जिसके मन में पश्चात्ताप नहीं होता, उसे निष्कृप—निर्दय कहा जाता है ।

१८. जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥
—बृह० भा० १३२०
१९. अप्पाहारस्स न इंदियाइं, विसएसु संपत्तंति ।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि ॥
—बृह० भा० १३३१
२०. तं तु न विज्जइ सज्जं, जं धिइमंतो न साहेइ ।
—बृह० भा० १३५७
२१. धंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूतो ।
—बृह० भा० १९४४
२२. सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्ढीआ ।
तस्स पुण जोव्वणम्मि, पओअणं किं गिरिगुहाए ?
—बृह० भा० २११४
२३. न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स ।
—बृह० भा० २१३८
२४. वालेण य न छलिज्जइ, ओसह्हत्थो वि किं गाहो ?
—बृह० भा० २१६०
२५. उदगघडे वि करगए, किमोगमादीवितं न उज्जलइ ।
अइइद्धो वि न सक्कइ, विनिव्ववेउं कुडजलेणं ॥
—बृह० भा० २१६१
२६. चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायंपि वज्जेई ।
—बृह० भा० २१६६
२७. छाएउं च पभायं, न वि सक्का पडसएणावि ।
—बृह० भा० २२६६

१८. जो कठोरहृदय दूसरे को पीडा से प्रकंपमान देखकर भी प्रकम्पित नहीं होता, वह निरनुकंप (अनुकंपारहित) कहलाता है। चूंकि अनुकंपा का अर्थ ही है—काँपते हुए को देखकर कंपित होना।
१९. जो अल्पाहारी होता है, उसकी इंद्रियां विषयभोग की ओर नहीं दौडतीं, तप का प्रसंग आने पर भी वह क्लान्त नहीं होता और न ही सरस भोजन में आसक्त होता है।
२०. वह कौन-सा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान् व्यक्ति संपन्न नहीं कर सकता ?
२१. दूध पाने की कोई कितनी ही तीव्र आकांक्षा क्यों न रखे, पर बांझ गाय से कभी दूध नहीं मिल सकता।
२२. गुफा बचपन में सिंह-शिशु की रक्षा करती है, अतः तभी तक उसकी उपयोगिता है। जब सिंह तरुण हो गया, तो फिर उसके लिए गुफा का क्या प्रयोजन है ?
२३. पुरुषार्थहीन व्यक्ति के लिए ऐसा कोई कार्य नहीं, जो कि निर्दोष हो, अर्थात् वह प्रत्येक कार्य में कुछ-न-कुछ दोष निकालता ही रहता है।
२४. हाथ में नागदमनी औषधि के होते हुए भी क्या सर्प पकड़ने वाला गारुड़ी दुष्ट सर्प से नहीं छला जाता है, काट लिया नहीं जाता है ?
(साधक को भी तप आदि पर विश्वस्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। हर क्षण विकारों से सतर्क रहने की आवश्यकता है।)
२५. गृहस्वामी के हाथ में जल से भरा घडा होते हुए भी क्या आग लगने पर घर नहीं जल जाता है ? अवश्य जल जाता है। क्योंकि सब ओर अत्यन्त प्रदीप्त हुआ दावानल एक घड़े के जल से बुझ नहीं सकता है !
(जितना महान् साध्य हो उतना ही महान् साधन होना चाहिए।)
२६. आम खाने से जिसे व्याधि होती हो, वह आम की छाया से भी बच कर चलता है।
२७. वस्त्र के सँकड़ों आवरणों (प्रावरणों) के द्वारा भी प्रमात के स्वर्णिम आलोक को ढका नहीं जा सकता।

२८. अवच्छलत्ते यं दंसणे हाणी ।

—बृह० भा० २७११

२९. अकसायं खु चरित्तं, कसायसहिओ न संजओ होइ ।

—बृह० भा० २७१२

३०. जो पुण जतणारहिओ, गुणो वि दोसायते तस्स ।

—बृह० भा० ३१८१

३१. कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदीव कूलं कुलडा उ नारी ।

—बृह० भा० ३२५१

३२. अंधो कहिं कत्थइ देसियत्तं ?

—बृह० भा० ३२५३

३३. वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा ।

—बृह० भा० ३२५४

३४. ण सुत्तमत्थं अतिरिच्च जाती ।

—बृह० भा० ३६२७

३५. जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं तं चेव ह्यकतग्घाइं ।
कुमुदाइं अप्पसंभावियाइं चंदं उवहसंति ॥

—बृह० भा० ३६४२

३६. जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अच्छिद्दपोतस्स व अंबुणाघे ॥

—बृह० भा० ३९२६

३७. आहच्च हिंसा समितस्स जा तू,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्स,
जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ॥

—बृह० भा० ३९३३

२८. धार्मिक जनों में परस्पर वात्सल्य भाव की कमी होने पर सम्यग्दर्शन की हानि होती है ।
२९. अकषाय (वीतरागता) ही चारित्र्य है । अतः कषायभाव रखने वाला संयमी नहीं होता ।
३०. जो यतनारहित है, उसके लिए गुण भी दोष बन जाते हैं ।
३१. स्वच्छंद आचरण करने वाली नारी अपने दोनों कुलों (पितृकुल व श्वसुर-कुल) को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे कि स्वच्छंद बहती हुई नदी अपने दोनों कुलों (तटों) को ।
३२. कहाँ अंधा और कहाँ पथप्रदर्शक ?
(अंधा और मार्गदर्शक, यह कैसा मेल ?)
३३. यह वसुंधरा वीरभोग्या है ।
३४. सूत्र, अर्थ (व्याख्या) को छोड़कर नहीं चलता है ।
३५. जिस चन्द्र की ज्योत्स्ना द्वारा कुमुद विकसित होते हैं, हन्त ! वे ही कृतघ्न होकर अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुए उसी चन्द्रमा का उपहास करने लग जाते हैं ।
३६. जैसे-जैसे मन, वचन, काया के योग (संघर्ष) अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बंध भी अल्पतर होता जाता है । योगचक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बंध का सर्वथा अभाव हो जाता है, जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है ।
३७. संयमी साधक के द्वारा कभी हिंसा हो भी जाए, तो वह द्रव्य हिंसा होती है, भाव हिंसा नहीं । किंतु जो असंयमी है, वह जीवन में कभी किसी का वध न करने पर भी, भावरूप से सतत हिंसा करता रहता है ।

३८. जाणं करेति एवको, हिंसमजाणमपरो अविरतो य ।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए ॥
—बृह० भा० ३९३८
३९. विरतो पुण जो जाणं, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा ।
तत्थ वि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चयो ॥
—बृह० भा० ३९३९
४०. देहबलं खलु विरियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो ।
—बृह० भा० ३९४८
४१. संजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसवं होइ ।
जह आरोग्गणिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स ॥
—बृह० भा० ३९५१
४२. ण भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए ।
—बृह० भा० ४११८
४३. गिरा हि संखारजुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी ।
—बृह० भा० ४११८
४४. बाला य बुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा ।
—बृह० भा० ४३४२
४५. न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धलेइ कण्ठुई ।
—बृह० भा० ४३६३
४६. जहा तवस्सी धुणते तवेणं, कम्मं तथा जाण तवोऽणुमंता ।
—बृह० भा० ४४०१

३८. एक अविरत (असंयमी) जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजान में । शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबंध में महान् अन्तर बताया है ।^१ अर्थात् तीव्र भावों के कारण जानने वाले को अपेक्षाकृत कर्मबंध तीव्र होता है ।
३९. अप्रमत्त संयमी (जागृत साधक) चाहे जान में (अपवाद स्थिति में) हिंसा करे या अनजान में, उसे अन्तरंग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नहीं ।
४०. देह का बल ही वीर्य है और बल के अनुसार ही आत्मा में शुभाशुभ भावों का तीव्र या मंद परिणमन होता है ।
४१. संयम के हेतु की जाने वाली प्रवृत्तियाँ निर्दोष होती हैं, जैसे कि बंद्य के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद (फोड़े का ऑपरेशन) आरोग्य के लिए होने से निर्दोष होता है ।
४२. नारी का आभूषण शील और लज्जा है । बाह्य आभूषण उसकी शोभा नहीं बढ़ा सकते ।
४३. संस्कृत, प्राकृत आदि के रूप में सुसंस्कृत भाषा भी यदि असभ्यतापूर्वक बोली जाती है, तो वह भी जुगुप्सित हो जाती है ।
४४. बालक, वृद्ध और अपंग व्यक्ति, विशेष अनुकंपा (दया) के योग्य होते हैं ।
४५. जिस घड़े की पेंदी में छेद हो गया हो, उसमें जल आदि कैसे टिक सकते हैं ?
४६. जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मों को धुन डालता है, वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी ।

१. यो जानन् जीवहिंसां करोति स तीव्रानुभावं बहुतरं पाप कर्मोपचिनोति, इतरस्तु मन्दतरविपाकमल्पतरं ...।

—इति भाष्यवृत्तिकारः क्षेमकीर्तिः

४७. जोइंति पक्कं न उ पक्कलेणं,
ठावेति तं सूरहगस्स पासे ।
एक्कमि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
वज्झंति वग्घा न य पंजरे दो ॥
—बृह० भा० ४४१०
४८. धम्मस्स मूलं विणयं वदंति, धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए ।
—बृह० भा० ४४४१
४९. मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसा य, जुत्तस्स उ गुणावहा ॥
—बृह० भा० ४४४९
५०. जहिं णत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि ।
सो उ अगच्छो, गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो ॥
—बृह० भा० ४४६४
५१. जं इच्छसि अप्पणतो,
जं च न इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि,
एत्तियगं जिणसासणयं ॥
—बृह० भा० ४५८४
५२. सव्वारंभ-परिग्गहणिकखेवो सव्वभूतसमया य ।
एक्कग्गमणसमाहाणया य, अह एत्तिओ मोक्खो ॥
—बृह० भा० ४५८५
५३. जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि ॥
—बृह० भा० ४६७४
५४. तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं पि कुव्वत्था ।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिच्छाहि ॥
—बृह० भा० ४६७५

४७. पक्व (झगड़ालू) को पक्व के साथ नियुक्त नहीं करना चाहिए, किंतु शांत के साथ रखना चाहिए, जैसे कि एक खंभे से दो मस्त हाथियों को नहीं बाँधा जाता और न एक पिंजरे में दो सिंह रखे जाते हैं ।
४८. धर्म का मूल विनय है और धर्म सद्गति का मूल है ।
४९. मन, वचन और काया के तीनों योग अयुक्त (अविवेकी) के लिए दोष के हेतु हैं और युक्त (विवेकी) के लिए गुण के हेतु ।
५०. जिस संघ में न सारणा^१ है, न वारणा^२ है और न प्रतिचोदना^३ है वह संघ संघ नहीं है, अतः संयम आकांक्षी को उसे छोड़ देना चाहिए ।
५१. जो अपने लिए चाहते हो वह दूसरों के लिए भी चाहना चाहिए, जो अपने लिए नहीं चाहते हो वह दूसरों के लिए भी नहीं चाहना चाहिए —बस इतना मात्र जिन शासन है, तीर्थंकरों का उपदेश है ।
५२. सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियों के प्रति समता और चित्त की एकाग्रता रूप समाधि—बस इतना मात्र मोक्ष है ।
५३. जो कर्तव्य कल करना है वह आज ही कर लेना अच्छा है । मृत्यु अत्यंत निर्दय है, यह कब आ जाए, मालूम नहीं ।
५४. धर्माचरण करने के लिए शीघ्रता करो, एक क्षणभर भी प्रमाद मत करो । जीवन का एक एक क्षण विघ्नों से भरा है, इसमें संध्या की भी प्रतिक्षा नहीं करनी चाहिए ।

१. कर्तव्य की सूचना : २. अकर्तव्य का निषेध । ३. भूल होने पर कर्तव्य के लिए कठोरता के साथ शिक्षा देना ।

५५. तुल्लम्मि अवरारधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं ।
—बृह० भा० ४९७४
५६. कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिं पणत्तो ।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु ॥
—बृह० भा० ५१०८
५७. विणयाहीया विज्जा, देति फलं इह परे य लोगम्मि ।
न फलति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ॥
—बृह० भा० ५२०३
५८. वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिं हितं पि भण्णतो ।
—बृह० भा० ५२२८
५९. निव्विकप्पसुहं सुहं ।
—बृह० भा० ५७१७
६०. एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे ।
उप्पज्जंति वियंते य, वसेवं सज्जणे जणे ॥
—बृह० भा० ५७१९
६१. जह कोति अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढितो संतो ।
ण चइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिसमाणो उ ॥
—बृह० भा० ६०९२
६२. सव्वे वि होंति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे ।
—व्यवहारभाष्य पीठिका ४७
६३. पुव्वि बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा ॥
—व्य० भा० पी० ७६
६४. अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं चेव ।
—व्यव० भा० पी० ७७

५५. बाहर में समान अपराध होने पर भी अन्तर में परिणामों की तीव्रता व मन्दता सम्बन्धी तरतमता के कारण दोष की न्यूनाधिकता होती है ।
५६. यह ठीक है कि जिनेश्वरदेव ने परपरिताप को दुःख का हेतु बताया है । किंतु शिक्षा की दृष्टि से दुष्ट शिष्य को दिया जाने वाला परिताप इस कोटि में नहीं है, चूँकि वह तो स्व-पर का हितकारी होता है ।
५७. विनयपूर्वक पढ़ी गई विद्या, लोक परलोक में सर्वत्र फलवती होती है । विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिस प्रकार जल बिना धान्य की खेती ।
५८. हितैषियों के द्वारा हित की बात कहे जाने पर भी धूर्तों के द्वारा बहकाया हुआ व्यक्ति (व्युद्ग्राहित) उसे ठीक नहीं समझता—अर्थात् उसे उल्टी समझता है ।
५९. वस्तुतः रागद्वेष के विकल्प से मुक्त निर्विकल्प सुख ही सुख है ।
६०. एकाकी रहने वाले साधक के मन में प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एवं विलीन होते रहते हैं । अतः सज्जनों की संगति में रहना ही श्रेष्ठ है ।
६१. जिस प्रकार जहरीले कांटों वाली लता से वेष्टित होने पर अमृत वृक्ष का भी कोई आश्रय नहीं लेता, उसी प्रकार दूसरों को तिरस्कार करने और दुर्वचन कहने वाले विद्वान को भी कोई नहीं पूछता ।
६२. सभी नय (विचारदृष्टियाँ) अपने अपने स्थान (विचार केन्द्र) पर शुद्ध हैं। कोई भी नय अपने स्थान पर अंशुद्ध (अनुपयुक्त) नहीं है ।
६३. पहले बुद्धि से परख कर फिर बोलना चाहिए । अंधा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है ।
६४. मन को अकुशल=अशुभ विचारों से रोकना चाहिए और कुशल=शुभ विचारों के लिए प्रेरित करना चाहिए ।

६५. न उ सच्छंदता सेया, लोए किमुत उत्तरे ।
—व्यव० भा० पी० ८९
६६. जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा उ करेइ कज्जं ।
जा दुब्बला संठविया वि संती,
न तं तु सीलंति विसण्णदारुं ॥
—व्यव० भा० पी० १८१
६७. सालंबसेवी समुवेइ मोकखं ।
—व्यव० भा० पी० १८४
६८. अलस अणुबद्धवेरं, सच्छंदमती पयहीयव्वो ।
—व्यव० भा० १।६६
६९. तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो ।
अज्झत्थं तु पमाणं, न इंदियत्था जिणा विति ॥
—व्यव० भा० २।५४
७०. कम्माण निज्जरट्ठा, एवं खु गणो भवे धरेयव्वो ।
—व्यव० भा० ३।४५
७१. अत्थेण य वंजिज्जइ, सुत्तं तम्हाउ सो बलवं ।
—व्यव० भा० ४।१०१
७२. बलवाहणत्थहीणो, बुद्धीहीणो न रक्खए रज्जं ।
—व्यव० भा० ५।१०७
७३. जो सो मणप्पसादो, जायइ सो निज्जरं कुणति ।
—व्यव० भा० ६।१९०
७४. नवणीयतुल्लहियया साहू ।
—व्यव० भा० ७।१६५
७५. जइ नत्थि नाणच्चरणं, दिक्खा हु निरत्थिगा तस्स ।
—व्यव० भा० ७।२१५

६५. स्वच्छंदता लौकिक जीवन में भी हितकर नहीं है, तो लोकोत्तर जीवन (साधक जीवन) में कैसे हितकर हो सकती है ?
६६. गाडी का कुछ भाग टूट जाने पर तो उसे फिर सुधार कर काम में लिया जा सकता है, किंतु जो ठीक करने पर भी टूटती जाए और बेकार बनी रहे, उसको कौन सँवारे ? अर्थात् उसे संवारते रहने से क्या लाभ है ?
६७. जो साधक किसी विशिष्ट ज्ञानादि हेतु से अपवाद (निषिद्ध) का आचरण करता है, वह मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है ।
६८. आलसी, वैर-विरोध रखने वाले और स्वच्छंदाचारी का साथ छोड़ देना चाहिए ।
६९. इन्द्रियों के विषय समान होते हुए भी एक उनमें आसक्त होता है और दूसरा विरक्त । जिनेश्वरदेव ने बताया है कि इस सम्बन्ध में व्यक्ति का अन्तर्हृदय ही प्रमाणभूत है, इन्द्रियों के विषय नहीं ।
७०. कर्मों की निर्जरा के लिए (आत्मशुद्धि के लिए) ही आचार्यों को संघ का नेतृत्व संभालना चाहिए ।
७१. सूत्र (मूल शब्द पाठ), अर्थ (व्याख्या) से ही व्यक्त होता है; अतः अर्थ सूत्र से भी बलवान (महत्त्व पूर्ण) है ।
७२. जो राजा सेना, वाहन, अर्थ (संपत्ति) एवं बुद्धि से हीन है, वह राज्य की रक्षा नहीं कर सकता ।
७३. साधना में मनःप्रसाद (मानसिक निर्मलता) ही कर्मनिर्जरा का मुख्य कारण है ।
७४. साधुजनों का हृदय नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है ।
७५. यदि ज्ञान और तदनुसार आचरण नहीं है, तो उसकी दीक्षा निरर्थक है ।

७६. सव्वजगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं ।
 --व्यव० भा० ७।२१६
७७. नाणंमि असंतंमि, चरित्तं वि न विज्जए ।
 --व्यव० भा० ७।२१७
७८. न हि सूरस्स पगासं, दीवपगासो विसेसेइ ।
 --व्यव० भा० १०।५४
७९. अहवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागणीमोल्लं ।
 वइरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होति सयसहस्सं ॥
 --व्यव० भा० १०।२१६
८०. जो जत्थ होइ कुसलो, सो उ न हावेइ तं सइ बलम्मि ।
 --व्यव० भा० १०।५०८
८१. उवकरणेहि विहूणो, जह वा पुरिसो न साहए कज्जं ।
 --व्यव० भा० १०।५४०
८२. अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा ।
 --निशेथ भाष्य, २२
८३. कामं सभावसिद्धं तु, पवयणं दिप्पते सयं चेव ।
 --नि० भा० ३१
८४. कुसलवइ उदीरंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ।
 --नि० भा० ३७
 --बृह० भा० ४४।५१
८५. ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु ।
 --नि० भा० ४८
८६. णाणी ण विणा णाणं ।
 --नि० भा० ७५

७६. ज्ञान विश्व के समग्र रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है। ज्ञान से ही चारित्र (कर्तव्य) का बोध होता है।
७७. ज्ञान नहीं है, तो चारित्र भी नहीं है।
७८. सूर्य के प्रकाश के समक्ष दीपक के प्रकाश का क्या महत्व है ?
७९. कांच के बड़े मनके का भी केवल एक काकिनी^१ का मूल्य होता है, और हीरे की छोटी-सी कणी भी लाखों का मूल्य पाती है।
८०. जो जिस कार्य में कुशल है, उसे शक्ति रहते हुए वह कार्य करना ही चाहिए।
८१. साधनहीन व्यक्ति अभीष्ट कार्य को सिद्ध नहीं कर पाता है।
८२. सूत्रधर (शब्द-पाठी) की अपेक्षा अर्थधर (सूत्ररहस्य का ज्ञाता) को प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि अर्थ साक्षात् तीर्थंकरों की वाणी से निःसृत है।
८३. जिनप्रवचन सहज सिद्ध है, अतः वह स्वयं प्रकाशमान है।
८४. कुशल वचन (निरवद्य वचन) बोलने वाला वचन-समिति का भी पालन करता है, और वचन-गुप्ति का भी।
८५. निर्वीर्य (शक्तिहीन) व्यक्ति ज्ञान आदि की भी सम्यक्-साधना नहीं कर सकता।
८६. ज्ञान के बिना कोई भी ज्ञानी नहीं हो सकता।

१. काकिणी नाम ऋग्वेद अस्सीतितमो भागः।

रूपये का अस्सीवाँ भाग काकिणी (कौडी) होती है।

—उत्त० चू० ७

१३...

८७. धिती तु मोहस्स उवसमे होति ।

—नि० भा० ८५

८८. सुहपडिबोहा णिदा, दुहपडिबोहा य णिद्वणिदा य ।

—नि० भा० १३३

८९. णा णज्जोया साहू ।

—नि० भा० २२५

—बृह० भा० ३४५३

९०. जा चिट्ठा सा सव्वा संजमहेउं ति होति समणाणं ।

—नि० भा० २६४

९१. राग-द्वोसाणुगता, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा ।

अराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं ॥

—नि० भा० ३६३

—बृह० भा० ४९४३

९२. संसारगड्डपडितो णाणादवलंबितुं समारुहति ।

मोक्खतडं जध पुरिसो, वल्लिवित्ताणेण विसमाओ ।

—नि० भा० ४६५

९३. ण हु होति सोयितव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि ।

सो होइ सोयियव्वो, जो संजम-दुब्बलो विहरे ।

—नि० भा० १७१७

—बृह० भा० ३७३९

९४. णेहरहितं तु फरुसं ।

—नि० भा० २६०८

९५. अलं विवाएण णे कत्तमुहेहिं ।

—नि० भा० २६१३

९६. आसललिअं वराओ, चाएति न गद्भो काउं ।

—नि० भा० २६२८

८७. मोह का उपशम होने पर ही धृति होती है ।
८८. समय पर सहजतया जाग आ जाना 'निद्रा' है, कठिनाई से जो जाग आए वह 'निद्रा-निद्रा' है ।
८९. साधक ज्ञान का प्रकाश लिए जीवन यात्रा करता है ।
९०. श्रमणों की सभी चेष्टा अर्थात् क्रियाएँ संयम के हेतु होती हैं ।
९१. राग-द्वेष पूर्वक की जानेवाली प्रतिसेवना (निषिद्ध आचरण) दर्पिका है और राग-द्वेष से रहित प्रतिसेवना (अपवाद काल में परिस्थितिवश किया जाने वाला निषिद्ध आचरण) कल्पिका है । कल्पिका में संयम की आराधना है और दर्पिका में विराधना ।
९२. जिस प्रकार विषम गर्त में पड़ा हुआ व्यक्ति लता आदि को पकड़ कर ऊपर आता है, उसी प्रकार संसारगर्त में पड़ा हुआ व्यक्ति ज्ञान आदि का अवलंबन लेकर मोक्ष रूपी किनारे पर आ जाता है ।
९३. वह शोचनीय नहीं है, जो अपनी साधना में दृढ रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त कर गया है । शोचनीय तो वह है, जो संयम से भ्रष्ट होकर जीवित घूमता फिरता है ।
९४. स्नेह से रहित वचन 'परुष = कठोर वचन' कहलाता है ।
९५. कृतमुख (विद्वान) के साथ विवाद नहीं करना चाहिए ।
९६. शिक्षित अश्व की क्रीडाएँ बिचारा गर्दभ कैसे कर सकता है ?

९७. जय कोहाइ विवढ्ठी, तह हाणी होइ चरणे वि ।

—नि० भा० २७९०

—बृह० भा० २७११

९८. जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं ॥

—नि० भा० २७९३

—बृह० भा० २७१५

९९. राग-दोस-विमुक्को सीयघरसमो य आयरिओ ।

—नि० भा० २७९४

१००. तमतिमिरपडलभूओ, पावं चित्तेइ दीहसंसारी ।

—नि० भा० २८४७

१०१. सोऊण वा गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।

जति तुरियं णागच्छति, लग्गति गुहए^१ सवित्थारं ॥

—नि० भा० २९६०

—बृह० भा० ३७६९

१०२. जह भमर-महुयर-गणा णिवतंति कुसुमितम्मि वणसंडे ।

तह होति णिवतियव्वं, गेलण्णे कतितवजढेणं ॥

—नि० भा० २९७१

१०३. पुव्वतव-संजमा होंति, रागिणो पच्छिमा अरागस्स ।

—नि० भा० ३३३२

१०४. अप्पो बंधो जयाणं, बहुणिज्जर तेण मोक्खो तु ।

—नि० भा० ३३३५

१. चउम्मासे—इति बृहत्कल्पे ।

९७. ज्यों-ज्यों क्रोधादि कषाय की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों चारित्र्य की हानि होती है ।
९८. देशोत्कोटिपूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र्य अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है ।
९९. राग-द्वेष से रहित आचार्य शीतगृह^१ (सब ऋतुओं में एक समान सुखप्रद भवन) के समान है ।
१००. पुंजीभूत अंधकार के समान मलिन चित्तवाला दीर्घसंसारि जीव जब देखो तब पाप का ही विचार करता रहता है ।
१०१. विहार करते हुए, गाँव में रहते हुए, भिक्षाचर्या करते हुए यदि सुन पाए कि कोई साधु साध्वी बीमार है, तो शीघ्र ही वहाँ पहुँचना चाहिए । जो साधु शीघ्र नहीं पहुँचता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।
१०२. जिस प्रकार कुसुमित उद्यान को देख कर भौरे उस पर मंडराने लग जाते हैं, उसी प्रकार किसी साथी को दुःखी देखकर उसकी सेवा के लिए अन्य साथियों को सहज भाव से उमड़ पड़ना चाहिए ।
१०३. रागात्मा के तप-संयम निम्न कोटि के होते हैं, वीतराग के तप-संयम उत्कृष्टतम होते हैं ।
१०४. यतनाशील साधक का कर्मबंध अल्प, अल्पतर होता जाता है, और निर्जरा तीव्र, तीव्रतर । अतः वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

१. वड्ढकीरयण-णिम्मियं चक्किणो सीयघरं भवति । वासासु णिवाय-पवातं, सीयकाले सोम्हं, गिम्हे सीयलं...सञ्चरिउक्खमं भवति ।

१०५. इंदियाणि कसाये य, गारवे य किसे कुरु ।
णो वयं ते पसंसामो, किसं साहु सरीरगं ॥

--नि० भा० ३७५८

१०६. भण्णति सज्जमसज्जं, कज्जं सज्जं तु साहए मइमं ।
अविसज्जं साहेतो, किलिस्सति न तं च साहेई ॥

--नि० भा० ४१५७

बृह० भा० ५२७९

१०७. मोक्खपसाहणहेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो ।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥

--नि० भा० ४१५९

—बृह० भा० ५२८१

१०८. णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी ।

--नि० भा० ४७९१

—बृह० भा० ९३१

१०९. सुहसाहगं पि कज्जं करणविहूणमणुवायसंजुत्तं ।
अन्नायउदेसकाले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥

--नि० भा० ४८०३

—बृह० भा० ९४४

११०. नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठतो रक्खो ।
दुच्छेज्जो वड्ढंतो, सो च्चिय वत्थुस्स भेदाय ॥

--नि० भा० ४८०८

—बृह० भा० ९४५

१११. संपत्ती व विवत्ती व, होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प ।
अणुपायओ विवत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥

--नि० भा० ४८०८

—बृह० भा० ९४९

११२. जतिभागगया मत्ता, रागादीणं तहा चयो कम्मे ।

--नि० भा० ५१६४

—बृह० भा० २५१५

१०५. हम साधक के केवल अनशन आदि से कृश (दुर्बल) हुए शरीर के प्रशंसक नहीं हैं, वस्तुतः तो इन्द्रिय (वासना), कषाय और अहंकार को ही कृश (क्षीण) करना चाहिए।
१०६. कार्य के दो रूप हैं—साध्य और असाध्य। बुद्धिमान साध्य को साधने में ही प्रयत्न करें। चूँकि असाध्य को साधने में व्यर्थ का क्लेश ही होता है, और कार्य भी सिद्ध नहीं हो पाता।
१०७. ज्ञान आदि मोक्ष के साधन हैं, और ज्ञान आदि का साधन देह है, देह का साधन आहार है, अतः साधक को समयानुकूल आहार की आज्ञा दी गई है।
१०८. जो ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता है, वह ज्ञानी भी वस्तुतः अज्ञानी है।
१०९. देश, काल एवं कार्य को बिना समझे समुचित एवं उपाय से हीन किया जाने वाला कार्य, सुख-साध्य होने पर भी सिद्ध नहीं होता है।
११०. प्रासाद की दीवार में फूटनेवाला नया वृक्षांकुर प्रारंभ में नख से भी उखाड़ा जा सकता है, किंतु वही बढ़ते-बढ़ते एक दिन कुल्हाड़ी से भी दुच्छेद्य हो जाता है, और अन्ततः प्रासाद को ध्वस्त कर डालता है।
१११. कार्य करने वाले को लेकर ही कार्य की सिद्धि या असिद्धि फलित होती है। समय पर ठीक तरह से करने पर कार्य सिद्ध होता है और समय बीत जाने पर या विपरीत साधन से कार्य नष्ट हो जाता है।
११२. राग की जैसी मंद, मध्यम और तीव्र मात्रा होती है, उसी के अनुसार मंद, मध्यम और तीव्र कर्मबंध होता है।

११३. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दब्बाणि संथरे मुणिणो ।
कारणजाए जाते, सब्बाणि वि ताणि कप्पंति ॥

—नि० भा० ५२४५

—बृह० भा० ३३२७

११४. णवि किञ्चि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिदेहि ।
एसा तेसि आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥

—नि० भा० ५२४८

—बृह० भा० ३३३०

११५. कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गववायओ भवे सच्चं ।

नि० भा० ५२४९

११६. दोसा जेण निरुंभंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं ।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व ॥

—नि० भा० ५२५०

—बृह० भा० ३३३१

११७. णिउणो खलु सुत्तत्थो, न हु सक्को अपडिबोहितो नाउं ।

—नि० भा० ५२५२

—बृह० भा० ३३३३

११८. निक्कारणम्मि दोसा, पडिबंधे कारणम्मि णिदोसा ।

--नि० भा० ५२८४

११९. जो जस्स उ पाओग्गो, सो तस्स तहिं तु दायव्वो ।

—नि० भा० ५२९१

—बृह० भा० ३३७०

१२०. जागरह ! णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो ॥

—नि० भा० ५३०३

—बृह० भा० ३३८३

१२१. सुवति सुवंतस्स सुयं, संकियं खलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुयं, थिर-परिचित्तमप्पमत्तस्स ॥

—नि० भा० ५३०४

--बृह० भा० ३३८४

११३. उत्सर्ग मार्ग में समर्थ मुनि को जिन बातों का निषेध किया गया है, विशिष्ट कारण होने पर अपवाद मार्ग में वे सब कर्तव्यरूप से विहित हैं ।
११४. जिनेश्वरदेव से न किसी कार्य की एकांत अनुज्ञा दी है और न एकांत निषेध ही किया है । उनकी आज्ञा यही है कि साधक जो भी करे वह सच्चाई—प्रामाणिकता के साथ करे ।
११५. ज्ञान आदि की साधना देश काल के अनुसार उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग के द्वारा ही सत्य (सफल) होती है ।
११६. जिस किसी भी अनुष्ठान से रागादि दोषों का निरोध होता हो तथा पूर्व-संचित कर्म क्षीण होते हों, वह सब अनुष्ठान मोक्ष का साधक है । जैसे कि रोग को शमन करने वाला प्रत्येक अनुष्ठान चिकित्सा के रूप में आरोग्यप्रद है ।
११७. सूत्र का अर्थ अर्थात् शास्त्र का मूलभाव बहुत ही सूक्ष्म होता है, वह आचार्य के द्वारा प्रतिबोधित हुए बिना नहीं जाना जाता ।
११८. बिना विशिष्ट प्रयोजन के अपवाद दोषरूप है, किंतु विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए वही निर्दोष है ।
११९. जो जिसके योग्य हो, उसे वही देना चाहिए ।
१२०. मनुष्यो ! सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा वधमान रहती है । जो सोता है वह सुखी नहीं होता, जाग्रत रहने वाला ही सदा सुखी रहता है ।
१२१. सोते हुए का श्रुत=ज्ञान सुप्त रहता है, प्रमत्त रहने वाले का ज्ञान शंकित एवं स्वलित हो जाता है । जो अप्रमत्त भाव से जाग्रत रहता है, उसका ज्ञान सदा स्थिर एवं परिचित रहता है ।

१२२. सुवइ य अजगरभूतो, सुयं पि से णासती अमयभूयं ।
होहिति गोणब्भूयो, णट्ठमि सुये अमयभूये ॥

—नि० भा० ५३०५

—बृह० भा० ३३८७

१२३. जागरिया धम्मीणं, आहम्मीणं च सुत्तया सेया ।

—नि० भा० ५३०६

—बृह० भा० ३३८६

१२४. णालस्सेण समं सोक्खं, ण विज्जा सह णिद्वया ।
ण वेरगं ममत्तेणं, णारंभेण दयालुआ ॥

—नि० भा० ५३०७

—बृह० भा० ३३८५

१२५. दुक्खं खु णिरणुकंपा ।

—नि० भा० ५६३३

१२६. जो तु गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोस एव सो होती ।
अगुणो वि य होति गुणो, जो सुंदरणिच्छओ होति ।

—नि० भा० ५८७७

—बृह० भा० ४०५२

१२७. पीतीसुण्णो पिसुणो ।

—नि० भा० ६२१२

१२८. पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जति आभरणं, पलियत्तियकण्ण-हत्थस्स ॥

—नि० भा० ६२२१

—बृह० भा० ७८२

१२९. महवकरणं णाणं, तेणेव य जे मदं समुवहंति ।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसि ॥

—नि० भा० ६२२२

—बृह० भा० ७८३

१३०. खेत्तं कालं पुरिसं, नाऊण पगासए गुज्झं ।

—नि० भा० ६२२७

—बृह० भा० ७९०

१२२. जो अजगर के समान सोया रहता है, उसका अमृत-स्वरूप श्रुत (ज्ञान) नष्ट हो जाता है, और अमृत स्वरूप श्रुत के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति एक तरह से निरा बेल हो जाता है।
१२३. धार्मिक व्यक्तियों का जागते रहना अच्छा है और अधार्मिक जनों का सोते रहना।
१२४. आलस्य के साथ सुख का, निद्रा के साथ विद्या का, ममत्व के साथ वैराग्य का और आरंभ = हिंसा के साथ दयालुता का कोई मेल नहीं है।
१२५. किसी के प्रति निर्दयता का भाव रखना वस्तुतः दुःखदायी है।
१२६. जो गुण, दोष का कारण है, वह वस्तुतः गुण होते हुए भी दोष ही है और वह दोष भी गुण है, जिसका कि परिणाम सुंदर है, अर्थात् जो गुण का कारण है।
१२७. जो प्रीति से शून्य है—वह 'पिशुन' है।
१२८. जो व्यक्ति दुर्विनीत है, उसे सदाचार की शिक्षा नहीं देना चाहिए। भला जिसके हाथ पैर कटे हुए हैं, उसे कंकण और कुंडल आदि अलंकार क्या दिए जाएँ।
१२९. ज्ञान मनुष्य को मृदु बनाता है, किंतु कुछ मनुष्य उससे भी मदीढत होकर अधजलगरी की भाँति छलकने लग जाते हैं, उन्हें अमृत स्वरूप औषधि भी विष बन जाती है।
१३०. देश, काल और व्यक्ति को समझ कर ही गुप्त रहस्य प्रकट करना चाहिए।

१३१. अप्पत्तं च ण वातेज्जा, पत्तं च ण विमाणए ।

—नि० भा० ६२३०

१३२. आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेति ।

इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥

—नि० भा० ६२४३

१३३. णाणं भावो ततो णऽण्णो ।

—नि० भा० ६२९१

१३४. दुग्ग-विसमे वि न खलति, जो पंथे सो समे कहण्णु खले ।

—नि० भा० ६६९८

१३५. सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अ हया सचक्केहि ।

—आवश्यक निर्युक्ति भाष्य ४३

१३६. ववहारोऽपि हु बलवं, जं छउमत्थंपि वंदई अरहा ।

जो होइ अणाभिण्णो, जाणंतो धम्मयं एयं ॥

—आव० नि० भा० १२३

१३७. उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ ।

—आव० नि० भा० १४९

१३८. सत्तभयविप्पमुक्के, तहा भवंते भयंते अ ।

—आव० नि० भा० १८५

१३९. चित्तं तिकालविसयं ।

—दशबैकालिक निर्युक्ति भा० १९

१४०. अणिदियगुणं जीवं दुन्नेयं मंसचक्खुणा ।

—दशबै० नि० भा० ३४

१४१. णिच्चो अविणासि सासओ जीवो ।

—दशबै० नि० भा० ४२

१४२. हेउप्पभवो बन्धो ।

—दशबै० नि० भा० ४६

१३१. अपात्र (अयोग्य) को शास्त्र का अध्ययन नहीं कराना चाहिए और पात्र (योग्य) को उससे वंचित नहीं रखना चाहिए ।
१३२. मिट्टी के कच्चे घड़े में रखा हुआ जल जिस प्रकार उस घड़े को ही नष्ट कर डालता है, वैसे ही मन्दबुद्धि को दिया हुआ गम्भीर शास्त्रज्ञान, उसके विनाश के लिए ही होता है ।
१३३. ज्ञान आत्मा का ही एक भाव है, इसलिए वह आत्मा से भिन्न नहीं है ।
१३४. जो दुर्गम एवं विषम मार्ग में भी स्खलित नहीं होता है, वह सम अर्थात् सीधे, सरल मार्ग में कैसे स्खलित हो सकता है ?
१३५. जितने भी चक्रयोधी (अश्वग्रीव, रावण आदि प्रति वासुदेव) हुए हैं, वे अपने ही चक्र से मारे गए हैं ।
१३६. संघव्यवस्था में व्यवहार बड़ी चीज है । केवली (सर्वज्ञ) भी अथने छद्मस्थ गुरु को स्वकर्तव्य समझकर तब तक वंदना करते रहते हैं, जब तक कि गुरु उसकी सर्वज्ञता से अनभिज्ञ रहते हैं ।
१३७. यतनापूर्वक साधना में यत्नशील रहने वाला आत्मा ही सामायिक है ।
१३८. सात प्रकार के भय से सर्वथा मुक्त होने वाले भदंत 'भावान्त' या 'भयान्त' कहलाते हैं ।
१३९. आत्मा की चेतना शक्ति त्रिकाल है ।
१४०. आत्मा के गुण अनिन्द्रिय—अमूर्त हैं, अतः वह चर्म चक्षुओं से देख पाना कठिन है ।
१४१. आत्मा नित्य है, अविनाशी है, एवं शाश्वत है ।
१४२. आत्मा को कर्म बंध मिथ्यात्व आदि हेतुओं से होता है ।

१४३. दविए दंसणसुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु ।
 --ओघ नियुक्ति भाष्य ७
१४४. चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा ।
 --ओघ० नि० भा० ७
१४५. नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा ।
 --ओघ० नि० भा० २९०
१४६. नाण-किरियंहिं मोक्खो ।
 --विशेषावश्यक भाष्य गा० ३
१४७. सव्वं च णिज्जरत्थं सत्थमओऽमंगलमजुत्तं ।
 --विशेषा० भा० १९
१४८. दव्वसुयं जो अणुवउत्तो ।
 --विशेषा० भा० १२९
१४९. जग्गन्तो वि न जाणइ, छउमत्थो हिययगोयरं सव्वं ।
 जंतज्झवसाणाइं, जमसंखेज्जाइं दिवसेण ॥
 --विशेषा० भा० १९९
१५०. धम्मोऽवि जओ सव्वो, न साहणं किंतु जो जोग्गो ।
 --विशेषा० भा० ३३१
१५१. जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए ।
 भण्णइ तह नाणंपि हु, मिच्छादिट्ठस्स अण्णाणं ॥
 --विशेषा० भा० ५२०
१५२. नाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठस्स अण्णाणं ।
 --विशेषा० भा० ५२१
१५३. सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।
 --विशेषा० भा० ५४४
१५४. उवउत्तस्स उ खलियाइयं पि सुद्धस्स भावओ सुत्तं ।
 साहइ तह किरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ ॥
 --विशेषा० भा० ८६०

१४३. द्रव्यानुयोग (तत्त्वज्ञान) से दर्शन (दृष्टि) शुद्ध होता है और दर्शन शुद्ध होने पर चारित्र्य की प्राप्ति होती है ।
१४४. आचार रूप सद्गुणों की प्राप्ति के लिए धर्मकथा कही जाती है ।
१४५. संसार में भूख के समान कोई वेदना नहीं है ।
१४६. ज्ञान एवं क्रिया (आचार) से ही मुक्ति होती है ।
१४७. समग्र शास्त्र निर्जरा के लिए है, अतः उसमें अमंगल जैसा कुछ नहीं है ।
१४८. श्रीं श्रुत उपयोगशून्य है, वह सब द्रव्य-श्रुत है ।
१४९. जाग्रत दशा में भी छद्मस्थ अपने मन के सभी विचारों को नहीं जान पाता, क्योंकि एक ही दिन में मन के अध्यवसाय (विकल्प) असंख्य रूप ग्रहण कर लेते हैं ।
१५०. सभी धर्म मुक्ति के साधन नहीं होते हैं, किंतु जो योग्य है, वही साधन होता है ।
१५१. जिस प्रकार लोक में कुत्सित वचन, 'अवचन' एवं कुत्सित शील, 'अशील' (शील का अभाव) कहलाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का ज्ञान कुत्सित होने के कारण अज्ञान कहलाता है ।
१५२. ज्ञान के फल (सदाचार) का अभाव होने से मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान है ।
१५३. विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और साथ ही नित्य भी रहता है ।
१५४. उपयोगयुक्त शुद्ध व्यक्ति के ज्ञान में कुछ स्वलनाएँ होने पर भी वह शुद्ध ही है । उसी प्रकार धर्म क्रियाओं में कुछ स्वलनाएँ होने पर भी उस शुद्धोपयोगी की सभी क्रियाएँ कर्मनिर्जरा की हेतु होती हैं ।

१५५. चित्तणू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ।

—विशेषा० भा० ९३७

१५६. मिच्छत्तमयसमूहं सम्मत्तं ।

—विशेषा० भा० ९५४

१५७. अन्नं पुट्ठो अन्नं जो साहइ, सो गुरू न बहिरोव्व ।

न य सीसो जो अन्नं सुणेइ, परिभासए अन्नं ॥

—विशेषा० भा० १४४३

१५८. वयणं विण्णाणफलं, जइ तं भणिएऽवि नत्थि किं तेण ?

—विशेषा० १५१३

१५९. सामाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव ।

—विशेषा० भा० १५२९

१६०. असुभो जो परिणामो सा हिंसा ।

—विशेषा० भा० १७६६

१६१. गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा मुच्छाहि निच्छयओ ।

—विशेषा० भा० २५७३

१६२. इंदो जीवो सव्वोवलद्धि भोगपरमेसरत्तणओ ।

—विशेषा० २९९३

१६३. धम्मा-धम्मा न परप्पसाय-कोपाणुवत्तिओ जम्हा ।

—विशेषा० भा० ३२५४

१६४. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।

विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ?

—विशेषा० भा० ३४६८



१५५. गुरुदेव के अभिप्राय को समझकर उसके अनुकूल चलने वाला शिष्य सम्यक प्रकार से ज्ञान प्राप्त करता है ।
१५६. (अनेकान्त दृष्टि से युक्त होने पर) मिथ्यात्वमतों का समूह भी सम्यक्त्व बन जाता है ।
१५७. बहरे के समान—शिष्य पूछे कुछ और, बताए कुछ और—वह गुरु, गुरु नहीं है और वह शिष्य भी शिष्य नहीं है, जो सुने कुछ और, कहे कुछ और ।
१५८. वचन की फलश्रुति है—अथज्ञान ! जिस वचन के बोलने से अर्थ का ज्ञान नहीं हो, तो उस 'वचन' से भी क्या लाभ ?
१५९. सामायिक में उपयोग रखने वाला आत्मा स्वयं ही सामायिक हो जाता है ।
१६०. निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है ।
१६१. निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी । यदि मूर्च्छा है, तो परिग्रह है; मूर्च्छा नहीं है, तो परिग्रह नहीं है ।
१६२. सब उपलब्धि एवं भोग के उत्कृष्ट ऐश्वर्य के कारण प्रत्येक जीव इन्द्र है ।
१६३. धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है । दूसरों की प्रसन्नता और नाराजगी पर उसकी व्यवस्था नहीं है ।
१६४. विनय जिनशासन का मूल है, विनीत ही संयमी हो सकता है । जो विनय से हीन है, उसका क्या धर्म, और क्या तप ?



चूर्णसाहित्य की सूक्तियाँ

१. जो अहंकारो, भणितं अप्पलक्खणं ।
— आचारांग चूर्ण १।१।१
२. जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सब्बजीवाणं ।
—आचा० चू० १।१।६
३. असंतुट्ठाणं इह परत्थ य भयं भवति ।
—आचा० चू० १।२।२
४. ण केवलं वयबालो ... कज्जं अयाणओ बालो चेव ।
—आचा० चू० १।२।३
५. विसयासत्तो कज्जं अकज्जं वा ण याणति ।
—आचा० च० १।२।४
६. काले चरंतस्स उज्जमो सफलो भवति ।
—आचा० चू० १।२।५
७. ण दीणो ण गव्वितो ।
—आचा० चू० १।२।५
८. धम्मे अणुज्जुत्तो सीयलो, उज्जुत्तो उण्हो ।
—आचा० चू० १।३।१

चूर्णसाहित्य की सूक्तियाँ



१. यह जो अन्दर में 'अहं' — 'मैं' की चेतना है, यह आत्मा का लक्षण है ।
२. जैसे द्रष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख मुझे होते हैं, वैसे ही सब जीवों को होते हैं ।
३. असंतुष्ट व्यक्ति को यहाँ, वहाँ सर्वत्र भय रहता है ।
४. केवल अवस्था से ही कोई बाल (बालक) नहीं होता, किंतु जिसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है वह भी 'बाल' ही है ।
५. विषयासक्त को कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध नहीं रहता ।
६. उचित समय पर काम करने वाले का ही श्रम सफल होता है ।
७. साधक को न कभी दीन होना चाहिए और न अभिमानी ।
८. धर्म में उद्यमी = क्रियाशील व्यक्ति, उष्ण = गर्म है, उद्यमहीन शीतल = ठंडा है ।

९. ण याणंति अप्पणो वि, किन्नु अण्णेसि ।
—आचा० चू० १।३।३
१०. अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुंजमाणस्स वा ।
—आचा० चू० १।३।४
११. ण चिय अणिघणे अग्गी दिप्पति ।
— आचा० चू० १।३।४
१२. जत्तियाइं असंजमट्ठाणाइं, तत्तियाइं संजमट्ठाणाइं ॥
—आचा० चू० १।४।२
१३. कोयि केवलमेव गंथमेहावी भवति, ण तु जहातहं पंडितो ।
—आचा० चू० १।५।३
१४. रागदोसकरो वादो ।
—आचा० चू० १।७।१
१५. विवेगो मोवखो ।
—आचा० चू० १।७।१
१६. जइ वणवासमित्तेणं नाणी जाव तवस्सी भवति,
तेण सीहवग्घादयो वि ।
—आचा० चू० १।७।१
१७. छुहा जाव सरीरं, ताव अत्थि ।
—आचा० चू० १।७।३
१८. न वृद्धो भूत्वा पुनरुत्तानशायी क्षीराहारो बालको भवति ।
—सूत्र कृतांग चूर्णि १।२।२
१९. आरंभपूर्वको परिग्रहः ।
—सूत्र० चू० १।२।२
२०. समभावः सामादयं ।
—सूत्र० चू० १।२।२
२१. चत्तं न दूषयितव्यं ।
—सूत्र० चू० १।२।२

९. जो अपने को ही नहीं जानता, वह दूसरों को क्या जानेगा ?
१०. अप्रमत्त (सदा सावधान) को चलते, खड़े होते, खाते, कहीं भी कोई भय नहीं है ।
११. बिना इंधन के अग्नि नहीं जलती ।
१२. विश्व में जितने असंयम के स्थान (कारण) हैं, उतने ही संयम के स्थान (कारण) हैं ।
१३. कुछ लोग केवल ग्रंथ के पंडित (शब्द-पंडित) होते हैं, 'यथार्थ पंडित' (भावपंडित) नहीं होते ।
१४. प्रत्येक 'वाद' रागद्वेष की वृद्धि करने वाला है ।
१५. वस्तुतः विवेक ही मोक्ष है ।
१६. यदि कोई वन में रहने मात्र से ही ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है, तो फिर सिंह, बाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते हैं ।
१७. जब तक शरीर है, तब तक भूख है ।
१८. बूढ़ा होकर कोई फिर उत्तानशायी दूधमुंहा बालक नहीं हो सकता ।
१९. परिग्रह (धनसंग्रह) बिना हिंसा के नहीं होता ।
२०. समभाव ही सामायिक है ।
२१. कर्म करो, किंतु मन को दूषित न होने दो ।

२२. समाधिर्नाम रागद्वेषपरित्यागः
—सूत्र० सू० १।२।२
२३. न हि सुखेन सुखं लभ्यते ।
—सूत्र० सू० १।३।४
२४. न निदानमेव रोगचिकित्सा ।
—सूत्र० सू० १।१२
२५. कर्मभीताः कर्माण्येव बद्धयन्ति ।
—सूत्र० सू० १।१२
२६. ज्ञानधनानां हि साधूनां किमन्यद् वित्तं स्यात् ?
—सूत्र० सू० १।१४
२७. सयणे सुवंतो साधू, साधुरेव भवति ।
—सूत्र० सू० १।१४
२८. शरीरधारणार्थं स्वपिति, निद्रा हि परमं विश्रामणं ।
—सूत्र० सू० १।१४
२९. गेहंमि अग्निजालाउलंमि, जह णाम डज्झमाणंमि ।
जो बोहेइ सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधु ॥
—सूत्र० सू० १।१४
३०. मणसंजमो णाम अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं वा ।
—दशवैकालिक सूणि, अभयन १
३१. साहुणा सागरो इव गंभीरेण होयव्वं ।
— दशवै० सू० १
३२. मइलो पडो रंगिओ न सुंदरं भवइ ।
— दशवै० सू० ४
३३. अरत्त-दुट्ठस्स परिभुंजतस्स ण परिग्गहो भवति ।
— दशवै० सू० ६
३४. कोवाकुलचित्तो जं संतमवि भासति, तं मोसमेव भवति ।
—दशवै० सू० ७

२२. रागद्वेष का त्याग ही समाधि है ।
२३. सुख से (आसानी से) सुख नहीं मिलता ।
२४. केवल निदान (रोग परीक्षा) ही रोग की चिकित्सा नहीं है ।
२५. कर्मों से डरते रहने वाले प्रायः कर्म ही बढ़ाते रहते हैं ।
२६. जिनके पास ज्ञान का ऐश्वर्य है, उन साधु पुरुषों को, और क्या ऐश्वर्य चाहिए ?
२७. बाहर में शय्या पर सोता हुआ भी साधु, (अन्दर में जागृत रहने से) साधु ही है, असाधु नहीं ।
२८. साधक स्वास्थ्य रक्षा के लिए ही सोता है, क्योंकि निद्रा भी बहुत बड़ी विश्रान्ति है ।
२९. अग्नि की ज्वालाओं से जलते हुए घर में सोए व्यक्ति को, यदि कोई जगा देता है, तो वह उसका सर्वश्रेष्ठ बंधु है ।
३०. अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन—मन का संयम है ।
३१. साधु को सागर के समान गंभीर होना चाहिए ।
३२. मलिन वस्त्र रंगने पर भी सुंदर नहीं होता ।
३३. राग-द्वेष से रहित साधक वस्तु का परिभोग (उपयोग) करता हुआ भी परिग्रही नहीं होता ।
३४. क्रोध से क्षुब्ध हुए व्यक्ति का सत्य-भाषण भी असत्य ही है ।

३५. जं भासं भासंतस्स सच्चं मोसं वा चरित्तं विसुज्झइ,
सव्वा वि सा सच्चा भवति ।
जं पुण भासमाणस्स चरित्तं न सुज्झति,
सा मोसा भवति ।
— दशवै० चू० ७
३६. न धर्मकथामन्तरेण दर्शनप्राप्तिरस्ति ।
—उत्तराध्ययन चूर्णि, अध्ययन १
३७. सब्बणाणुत्तरं सुयणाणं ।
—उत्त० चू० १
३८. न विनयशून्ये गुणावस्थानम् ।
—उत्त० चू० १
३९. यदा निरुद्धयोगास्रवो भवति, तदा जीवकर्मणोः
पृथक्त्वं भवति ।
—उत्त० चू० १
४०. पापाद् डीनः—पंडितः ।
—उत्त० चू० १
४१. पुरुषस्य हि भुजावेव पक्षी ।
—उत्त० चू० १
४२. पासयति पातयति वा पापं ।
—उत्त० चू० २
४३. समो सब्बत्थ मणो जस्स भवति स समणो ।
—उत्त० चू० २
४४. मनसि शेते—मनुष्यः ।
—उत्त० चू० ३
४५. मरणमपि तेषां जीवितवद् भवति ।
—उत्त० चू० ५
४६. सर्वो हि आत्मगृहे राजा ।
—उत्त० चू० ७

३५. जिस भाषा को बोलने पर—चाहे वह सत्य हो या असत्य—चारित्र्य की शुद्धि होती है, तो वह सत्य ही है और जिस भाषा के बोलने पर चारित्र्य की शुद्धि नहीं होती—चाहे वह सत्य ही क्यों न हो—असत्य ही है। अर्थात् साधक के लिए शब्द का महत्त्व नहीं, भावना का महत्त्व है।
३६. धर्म कथा के बिना दर्शन (सम्यक्त्व) की उपलब्धि नहीं होती।
३७. साधना की दृष्टि से श्रुत ज्ञान सब ज्ञानों में श्रेष्ठ है।
३८. विनयहीन व्यक्ति में सद्गुण नहीं ठहरते।
३९. जब आत्मा मन, वचन, काया की चंचलतारूप योगासव का पूर्ण निरोध कर देता है, तभी सदा के लिए आत्मा और कर्म पृथक् हो जाते हैं।
४०. जो पाप से दूर रहता है, वह पंडित है।
४१. मनुष्य की अपनी दो भुजाएँ ही उसकी दो पाँखें हैं।
४२. जो आत्मा को बांधता है, अथवा गिराता है, वह पाप है।
४३. जिसका मन सर्वम सम रहता है, वह समण (श्रमण) है।
४४. जो मन में सोता है—अर्थात् चिंतन मन में लीन रहता है, वह मनुष्य है।
४५. उच्च आदर्श से लिए श्रेष्ठ पुरुषों का मरण भी, जीवन के समान है।
४६. अपने घर में हर कोई राजा होता है।

४७. परिणिवृत्तो णाम रागदोसविमुक्के ।
—उत्त० चू० १०
४८. यस्तु आत्मनः परेषां च शान्तये, तद् भावतीर्थं भवति ।
—उत्त० चू० १२
४९. शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्याः शुद्धा भवन्ति ।
—उत्त० चू० १२
५०. द्रव्यब्रह्म अज्ञानिनां वस्तिनिग्रहः, मोक्षाधिकारशून्यत्वात् ।
—उत्त० चू० १६
५१. देशकालानुरूपं धर्मं कथयन्ति तीर्थकराः ।
—उत्त० चू० २३
५२. परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि मोक्षकारणं, न लिंगादीनि ।
—उत्त० चू० २३
५३. स्थिरीकरणात् स्थविरः ।
—उत्त० चू० २७
५४. अमुक्तस्य च निर्वृतिर्नास्ति ।
उत्त० चू० २८
५५. जो अप्पणो परस्स वा आवत्तीए वि न परिच्चयति, सो बंधू ।
—नंदी सूत्र, चूर्णि १
५६. सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो ।
—नंदी० चू० १
५७. चित्तिज्जइ जेण तं चित्तं ।
—नंदी० चू० २।१३
५८. विसुद्धभावत्तणतो य सुगंधं ।
—नंदी० चू० २।१३
५९. विविहकुलुप्पणा साहवो कप्परुक्खा ।
—नंदी० चू० २।१६

४७. राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है ।
४८. जो अपने को और दूसरों को शान्ति प्रदान करता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप भावतीर्थ है ।
४९. बाहर में शरीर को लेश्या (वर्ण आदि) अशुद्ध होने पर भी अन्दर में आत्मा की लेश्या (विचार) शुद्ध हो सकती है ।
५०. अज्ञानी साधकों का चित्तशुद्धि के अभाव में किया जाने वाला केवल-जननेन्द्रिय-निग्रह द्रव्य ब्रह्मचर्य है, क्योंकि वह मोक्षाधिकार से शून्य है ।
५१. तीर्थकर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते हैं ।
५२. परमार्थ दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही मोक्ष का मार्ग है, वेष आदि नहीं ।
५३. जो अपने को और दूसरों को साधना में स्थिर करता है—वह स्थबिर है ।
५४. मृतक हुए बिना शान्ति प्राप्त नहीं होती ।
५५. जो अपने या दूसरे के संकट काल में भी अपने स्नेही का साथ नहीं छोड़ता है, वह बंधु है ।
५६. अहिंसा, सत्य आदि धर्म सब प्राणियों का पिता है, क्यों कि वही सबका रक्षक है ।
५७. जिससे चित्तन किया जाता है, वह चित्त है ।
५८. निशुद्ध भाव अर्थात् पवित्र विचार ही जीवन की सुगंध है ।
५९. विविध कुल एवं जातियों में उत्पन्न हुए साधु पुरुष पृथ्वी पर के कल्प-वृक्ष हैं ।

६०. भूतहितं ति अहिंसा ।
—नंदी० चू० ५।३८
६१. स्व-परप्रत्यायकं सुतनाणं ।
—नंदी० चू० ४४
६२. खंडसंजुतं खीरं पित्तजरोदयतो ण सम्मं भवइ ।
—नंदी० चू० ७१
६३. अणेगधा जाणमाणो विण्णाता भवति ।
—नंदी० चू० ८५
६४. संघयणा भावा उच्छाहो न भवति ।
दशाश्रुतस्कन्ध चूर्ण, पृ० ३
६५. सीसस्स वा विणयादिजुत्तस्स दितो निरिणो भवति ।
—दशा० चू०, पृ० २३
६६. मोक्खत्थं आहार-विहाराइसु अहिगारो कीरति ।
—निशीथ चूर्ण, भाष्य गाथा, ११
६७. णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जराहेऊ भवति ।
अकाले पुण उवघाय करं कम्मबंधाय भवति ।
—नि० चू० ११
६८. विणओववेयस्स इह परलोगे वि विज्जाओ फलं पयच्छंति ।
—नि० चू० १३
६९. मोहो विण्णाण विवच्चासो ।
—नि० चू० २६
७०. अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं ।
—नि० चू० ४६
७१. तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो ।
—नि० चू० ४६
७२. भावे णाणावरणातीणि पंको ।
—नि० चू० ७०

६०. प्राणियों का हित अहिंसा है ।
६१. स्व और पर को बोध कराने वाला ज्ञान—श्रुत-ज्ञान है ।
६२. खांड मिला हुआ मधुर दूध भी पित्तज्वर में ठीक नहीं रहता ।
६३. वस्तु स्वरूप को अनेक दृष्टियों से जानने वाला ही विज्ञाता है ।
६४. संहनन (शारीरिक शक्ति) क्षीण होने पर धर्म करने का उत्साह नहीं होता ।
६५. गुरु, विनयादि गुणयुक्त शिष्य को ज्ञानदान कर देने पर अपने गुरु के ऋण से मुक्त हो जाता है ।
६६. साधक के आहार-विहार आदि का विधान मुक्ति के हेतु किया गया है ।
६७. शास्त्र का अध्ययन उचित समय पर किया हुआ ही निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा वह हानि कर तथा कर्मबंध का कारण बन जाता है ।
६८. विनयशील साधक की विद्याएं यहाँ वहाँ (लोक परलोक में) सर्वत्र सफल होती हैं ।
६९. विवेकज्ञान का विपर्यास ही मोह है ।
७०. अज्ञान से संचित कर्मों के उपचय को रिक्त करना—चारित्र्य है ।
७१. जिस साधना से पाप कर्म तप्त होता है, वह तप है ।
७२. भाव-दृष्टि से ज्ञानावरण (अज्ञान) आदि दोष आभ्यंतर पंक हैं ।

७३. तवस्स मूलं धिती ।

—नि० सू० ८४

७४. पमाया दप्पो भवति अप्पमाया कप्पो ।

—नि० सू० ९१

७५. सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति,
एवं असति पाणातिवाए पमत्तताए वहगो भवति ।

—नि० सू० ९२

७६. पाणातिकारणावेक्ख अकप्पसेवणा कप्पो ।

—नि० सू० ९२

७७. माया-लोभेहितो रागो भवति ।
कोह-माणेहितो दोसो भवति ॥

--नि० सू० १३२

७८. गेलण्णे य बहुतरा संजमविराहणा ।

—नि० सू० १७५

७९. निभएणर्गतव्वं ।

—नि० सू० २७३

८०. णिट्ठुरं णिण्हेहवयणं खिसा ।
मउय सिणेहवयणं उवालंभो ॥

—नि० सू० २६३७

८१. समभावोसामायियं, तं सकसायस्स णो विमुज्जेज्जा ।

—नि० सू० २८४६

८२. गुणकारित्तणातो ओमं भोत्तव्वं ।

—नि० सू० ३९५१

८३. पुन्नं मोक्खगमणविग्घाय हवति ।

—नि० सू० ३३२९

८४. यत्रात्मा तत्रोपयोगः, यत्रोपयोगस्तत्रात्मा ।

—नि० सू० ३३३२

७३. तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है ।
७४. प्रमाद भाव से किया जाने वाला अपवादसेवन दर्प होता है और वही अप्रमाद भाव से किया जाने पर कल्प = आचार हो जाता है ।
७५. प्राणातिपात, होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है, और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है ।
७६. ज्ञानादि की अपेक्षा से किया जाने वाला अकल्पसेवन भी कल्प है ।
७७. माया और लोभ से राग होता है ।
क्रोध और मान से द्वेष होता है ।
७८. रोग हो जाने पर बहुत अधिक संयम की विराधना होती है ।
७९. जीवन पथ पर निर्भय होकर विचरण करना चाहिए ।
८०. स्नेहरहित निष्ठुर वचन खिंसा (फटकार) है, स्नेहसिक्त मधुर वचन उपालंभ (उलाहना) है ।
८१. समभाव सामायिक है, अतः कषाययुक्त व्यक्ति का सामायिक विशुद्ध नहीं होता ।
८२. कम खाना गुणकारी है ।
८३. परमार्थ दृष्टि से पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति में विघातक = बाधक है ।
८४. जहाँ आत्मा है, वहाँ उपयोग (चेतना) है, जहाँ उपयोग है, वहाँ आत्मा है ।

८५. यत्र तपः, तत्र नियमात्संयमः ।
यत्र संयमः, तत्रापि नियमात् तपः ।
—नि० सू० ३३३२
८६. अन्नं भासइ अन्नं करेइ त्ति मुसावाओ ।
—नि० सू० ३९८८
८७. आवत्तीए जहा अप्पं रक्खंति,
तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो ।
—नि० सू० ५९४२
८८. णाणदंसणविराहणाहिं णियमा चरणविराहणा ।
—नि० सू० ६१७८
८९. दव्वेण भावेण वा, जं अप्पणो परस्स वा
उवकारकरणं, तं सव्वं वेयावच्चं ॥
—नि० सू० ६६०५
९०. पमायमूलो बंधो भवति ।
—नि० सू० ६६८९



८५. जहाँ तप है, वहाँ नियम से संयम है, और जहाँ संयम है, वहाँ नियम से तप है ।
८६. 'कहना कुछ और करना कुछ'— यही मृषावाद (असत्य भाषण) है ।
८७. आपत्तिकाल में जैसे अपनी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की भी रक्षा करनी चाहिए ।
८८. ज्ञान और दर्शन की विराधना होने पर चारित्र्य की विराधना निश्चित है ।
८९. भोजन, वस्त्र आदि द्रव्य रूप से, और उपदेश एवं सत्प्रेरणा आदि भावरूप से, जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब वैश्यावृत्य है ।
९०. कर्मबंध का मूल प्रमाद है ।



सूक्तिकण

१. एगे आया ।
— समवायांग १११
२. विणयमूले धम्मे पन्नत्ते ।
—जाता धर्मकथा ११५
३. रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहारेणं चैव
पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही ।
—जाता० ११५
४. अहं अब्बए वि, अहं अवट्ठिण ए वि ।
—जाता० ५११
५. भोगेहिं य निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ।
—जाता० ११६
६. सुख्वा वि पोग्गला दुख्वात्ताए परिणमंति,
दुख्वा वि पोग्गला सुख्वात्ताए परिणमंति ।
—जाता० ११२
७. चक्खिंदियदुद्धंतत्तणस्स, अह एत्तिओ हवइ दोसो ।
जं जलणंमि जलंते, पडइ पर्यंगो अबुद्धीओ ॥
—जाता० ११७/४

सूक्तिकण



१. स्वरूपदृष्टि से सब आत्माएँ एक (समान) हैं ।
२. धर्म का मूल विनय = आचार है ।
३. रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होता ।
४. मैं (आत्मा) अव्यय = अविनाशी हूँ, अवस्थित = एकरस हूँ ।
५. जो विषय भोगों से निरपेक्ष रहते हैं, वे संसार वन को पार कर जाते हैं ।
६. सुरूप पुद्गल (सुंदर वस्तुएँ) कुरूपता में परिणत होते रहते हैं और कुरूप पुद्गल सुरूपता में ।
७. चक्षुष इन्द्रिय की आसक्ति का इतना बुरा परिणाम होता है कि मूखें पतंग जलती हुई आग में गिर कर मर जाता है ।

८. सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीपमाणं,
आहारे, आलंबणं, चक्खू ।
—उपासक दशा ११५
९. कालं अणवकंखमाणे विहरइ ।
—उपा० ११७३
१०. संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।
—उपा० ११७६
११. भारिया धम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया,
धम्माणुरागरत्ता समसुहदुक्खसहाइया ।
—उपा० ७१२२७
१२. जलबुब्बुयसमाणं कुसग्गजलबिंदुचंचलं जीवियं ।
—औपपातिक सूत्र २३
१३. निरुवलेवा गगणमिव, निरालंबणा अणिलो इव ।
—औप० २७
१४. अजियं जिणाहि; जियं च पालेहि ।
—औप० ५३
१५. सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति ॥
—औप० ५६
१६. धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह,
उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह ।
—औप० ५८
१७. ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्व देवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अग्वावाहं उवगयाणं ॥
—औप० १८०

८. गृहस्थ को अपने परिवार में मेढीभूत (स्तंभ के समान उत्तरदायित्व वहन करने वाला), आधार, आलंबन और चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक बनना चाहिए ।
९. साधक कष्टों से जूझता हुआ काल = मृत्यु से अनपेक्ष होकर रहे ।
१०. साधक संयम और तप से आत्मा को सतत भावित करता रहे ।
११. पत्नी —धर्म में सहायता करनेवाली, धर्म की साथी, धर्म में अनुरक्त तथा सुख दुःख में समान साथ देने वाली होती है ।
१२. जीवन पानी के बुलबुले के समान और कुशा की नोंक पर स्थित जलबिंदु के समान चंचल है ।
१३. संत जन आकाश के समान निरवलेप और पवन के समान निरालंब होते हैं ।
१४. राजनीति का सूत्र है—'नहीं जीते हुए शत्रुओं को जीतो और जीते हुएों का पालन करो ।'
१५. अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है ।
बुरे कर्म का बुरा फल होता है ।
१६. प्रभो ! आपने धर्म का उपदेश देते हुए उपशम का उपदेश दिया और उपशम का उपदेश देते हुए विवेक का उपदेश दिया ।
१७. संसार के सब मनुष्यों और सब देवताओं को भी वह सुख प्राप्त नहीं है, जो सुख अव्याबाध स्थिति को प्राप्त हुए मुक्त आत्माओं को है ।

१८. जे से पुरिसे देति वि, सणवेइ वि से णं ववहारी ।
जे से पुरिसे नो देति, नो सणवेइ से णं अववहारी ।
—राजप्रश्नीय ४।७०
१९. जत्थेव धम्मायरियं पासेज्जा, तत्थेव वंदिज्जा नमंसिज्जा ।
—राजप्र० ४।७६
२०. मा णं तुमं पदेसी !
पुव्वं रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि ।
—राजप्र० ४।८२
२१. सम्मद्दिट्ठस्स सुयं सुयणाणं,
मिच्छद्दिट्ठस्स सुयं सुयअन्ताणं ।
—नंदी सूत्र ४४
२२. सब्बजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडियो ।
—नंदी० ७५
२३. सुट्ठु वि मेहसमुदए होति पभा चंद-सूराणं ।
—नंदी० ७५
२४. अणुवओगो दव्वं ।
अनुयोग द्वार सू० १३
२५. सित्थेण दोणपाग, कविं च एक्काए गाहाए ।
—अनु० ११६
२६. जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णिअमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥^१
—अनु० १२७
२७. जो समो सब्बभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥^२
—अनु० १२८
२८. जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सब्बजीवाणं ।
म हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो ॥
—अनु० १२९

१—नियमसार १२७ । २—नियमसार १२६ ।

१८. जो व्यापारी ग्राहक को अभीष्ट वस्तु देता है और प्रीतिवचन से संतुष्ट भी करता है, वह व्यवहारी है। जो न देता है और न प्रीतिवचन से संतुष्ट ही करता है, वह अव्यवहारी है।
१९. जहाँ कहीं भी अपने धर्माचार्य को देखें, वहाँ पर उन्हें वन्दना नमस्कार करना चाहिए।
२०. हे राजन् ! तुम जीवन के पूर्वकाल में रमणीय होकर उत्तर काल में अरमणीय मत बन जाना।
२१. सम्यक्दृष्टि का श्रुत, श्रुत ज्ञान है।
मिथ्यादृष्टि का श्रुत, श्रुत अज्ञान है।
२२. सभी संसारी जीवों का कम से कम अक्षर-ज्ञान का अनन्तर्वा भाग तो सदा उद्घाटित ही रहता है।
२३. घने मेघावरणों के भीतर भी चंद्र सूर्य की प्रभा कुछ-न-कुछ प्रकाशमान रहती ही है।
२४. उपयोगशून्य साधना द्रव्य-साधना है, भाव-साधना नहीं।
२५. एक कण से द्रोण^१ भर पाक की और एक गाथा से कवि की परीक्षा हो जाती है।
२६. जिसकी आत्मा संयम में, नियम में एवं तप में सन्निहित = तल्लीन है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।
२७. जो त्रस (क्रीट, पतंगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सब जीवों के प्रति सम है अर्थात् समत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।
२८. जिस प्रकार मुझ को दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है; जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा 'समण' है।

२९. तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणो ।
सयणे अ जणे अ समो, समो अ माणावमाणेसु ॥
—अनु० १३२
३०. उवसमसारं खु सामणं ।
—बृहत्कल्प सूत्र १।३५
३१. जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा ।
—बृह० १।३५
३२. आगमबलिया समणा निग्गंथा ।
—व्यवहार सूत्र १०
३३. गिलाणं वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे,
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।
—व्यवहार० १०
३४. चत्तारि पुरिसजाया—
रूवे णाम एगे जहइ णो धम्मं ।
धम्मे णाम एगे जहइ णो रूवं ।
एगे रूवं वि जहइ धम्मं पि,
एगे णो रूवं जहइ णो धम्मं ।
—व्यवहार १०
३५. ओयं चित्तं समादाय ज्ञाणं समुप्पज्जइ ।
धम्मे ठिओ अविमणे, निव्वाणमभिगच्छइ ॥
—दशा श्रुतस्कंध ५।१
३६. णेमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि न जायइ ।
—दशा० ५।२
३७. अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति ताइणो ।
—दशा० ५।४
३८. सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा न रोहंति, मोह्णिज्जे खयं गते ।
—दशा० ५।१४

२९. जो मन से सु-मन (निर्मल मन वाला) है, संकल्प से भी कभी पापोन्मुख नहीं होता, स्वजन तथा परजन में, मान एवं अपमान में सदा सम रहता है, वह 'समण' होता है ।
३०. श्रमणत्व का सार है—उपशम !
३१. जो कषाय को शान्त करता है, वही आराधक है । जो कषाय को शांत नहीं करता, उसकी आराधना नहीं होती ।
३२. श्रमण निर्ग्रन्थों का बल 'आगम' (शास्त्र) ही है ।
३३. रुग्ण साथी की सेवा करता हुआ श्रमण महान् निर्जरा और महान् पर्य-वसान (परिनिर्वाण) करता है ।
३४. चार तरह के पुरुष हैं—
कुछ व्यक्ति वेष छोड़ देते हैं, किंतु धर्म नहीं छोड़ते ।
कुछ धर्म छोड़ देते हैं, किंतु वेष नहीं छोड़ते ।
कुछ वेष भी छोड़ देते हैं और धर्म भी ।
और कुछ ऐसे होते हैं जो न वेष छोड़ते हैं, और न धर्म !
३५. चित्तवृत्ति निर्मल होने पर ही ध्यान की सही स्थिति प्राप्त होती है । जो बिना किमी विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म में स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है ।
३६. निर्मल चित्त वाला साधक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता ।
३७. जो साधक अल्पाहारी है, इन्द्रियों का विजेता है, सभी प्राणियों के प्रति रक्षा की भावना रखता है, उसके दर्शन के लिए देव भी आतुर रहते हैं ।
३८. जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो, उसे कितना ही सींचिए, वह हरा भरा नहीं होता । मोह के क्षीण होने पर कर्म भी फिर हरे भरे नहीं होते ।

३९. जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥

—दशा० ५।१५

४०. धंसेइं जो अभूएणं, अकम्मं अत्त-कम्मुणा ।
अदुवा तुम कासित्ति, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।८

४१. जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासइ ।
अक्खीण-झंझे पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।९

४२. जं निस्सिए उव्वहइ, जससाहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तं पि, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।१५

४३. बहुजणस्स णेयारं, दीव-ताणं च पाणिणं ।
एयारिसं नरं हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।१७

४४. नाणी नवं न बन्धइ ।

—दशवैकालिक निर्युक्ति ३१६

४५. हिअ-मिअ-अफरुसवाई, अणुवीइभासि वाइओविणओ ।

—दशवै० नि० ३२२

४६. तण-कट्ठेहि व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहि ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेहि ॥

—आतुर प्रत्याख्यान ५०

४७. गहिओ सुग्गइमग्गो, नाहं मरणस्स बीहेमि ।

—आतुर० ६३

४८. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं ।
दुण्हं पि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥

—आतुर० ६४

३९. बीज जब जल जाता है, तो उससे नवीन अंकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकता ।
ऐसे ही कर्म बीज के जल जाने पर उससे जन्ममरणरूप अंकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकता ।
४०. जो अपने किए हुए दुष्कर्म को दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर डाल कर उसे लांछित करता है कि 'यह पाप तूने किया है' वह महामोह कर्म का बंध करता है ।
४१. जो सही स्थिति को जानना हुआ भी सभा के बीच में अस्पष्ट एवं मिश्र भाषा (कुछ सच कुछ झूठ) का प्रयोग करता है, तथा कलह-द्वेष से युक्त है, वह महामोह रूप पाप कर्म का बंध करता है ।
४२. जिसके आश्रय, परिचय तथा सहयोग से जीवनयात्रा चलती हो उसी की संपत्ति का अपहरण करने वाला दुष्ट जन महामोह कर्म का बंध करता है ।
४३. दुःखसागर में डूबे हुए दुःखी मनुष्यों का जो द्वीप के समान सहारा होता है, जो बहुजन समाज का नेता है, ऐसे परोपकारी व्यक्ति की हत्या करने वाला महामोह कर्म का बन्ध करता है ।
४४. जानी नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता ।
४५. हित, मित, मृदु और विचार पूर्वक बोलना वाणी का विनय है ।
४६. जिस प्रकार तृण, काष्ठ से अग्नि, तथा हजारों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता है, उसी प्रकार रागासक्त आत्मा काम-भोगों से तृप्त नहीं हो पाता ।
४७. मैंने सद्गति का मार्ग (धर्म) अपना लिया है, अब मैं मृत्यु से नहीं डरता ।
४८. धीर पुरुष को भी एक दिन अवश्य मरना है, और कायर को भी, जब दोनों को ही मरना है तो अच्छा है कि धीरता (शान्त भाव) में ही मरा जाए ।

४९. दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
—भक्तपरिज्ञा ६६
५०. जह मक्कडओ खणमवि, मज्झत्थो अच्छिउं न सक्केइ ।
तह खणमवि मज्झत्थो, विसएहि विणा न होइ मणो ।
—भक्त० ८४
५१. धम्ममहिंसासमं नत्थि ।
—भक्त० ९१
५२. जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
—भक्त० ९३
५३. अगीअत्थस्स वयणेणं, अमयंपि न घुंटे ।
—गच्छाचार ४६
५४. जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायरेण कायव्वं ।
—महाप्रत्याख्यान १०६
५५. सो नाम अणसणतवो, जेण मणो मंगुलं न चित्तेइ ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति ॥
—मरणसमाधि १३४
५६. किं इत्तो लट्ठयरं अच्छेरययं व सुंदरतरं वा ?
चंदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोयंति ,
—मरण० १४४
५७. नाणेण य करणेण य दोहि वि दुक्खक्खयं होइ ।
—मरण० १४७
५८. अत्थो मूलं अणत्थाणं ।
—मरण० ६०३
५९. न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियत्थिस्स ।
—मरण० ६१३
६०. हुंति गुणकारगाइं, सुयरज्जूहि धणियं नियमियाइं ।
नियगाणि इंदियाइं, जइणो तुरगा इव सुदंता ।
—मरण० ६२२

४९. जो सम्यक्दर्शन से भ्रष्ट है, वस्तुतः वही भ्रष्ट है, पतित है। क्योंकि दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्त नहीं होता।
५०. जैसे बंदर क्षणभर भी शांत होकर नहीं बैठ सकता, वैसे ही मन भी संकल्प विकल्प से क्षणभर के लिए भी शांत नहीं होता।
५१. अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।
५२. किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है।
५३. अमीतार्थ = अज्ञानी के कहने से अमृत भी नहीं पीना चाहिए।
५४. जिस किसी भी क्रिया से वैराग्य की जागृति होती हो, उसका पूर्ण श्रद्धा के साथ आचरण करना चाहिए।
५५. वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिस से कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-धर्म क्रियाओं में विघ्न न आए।
५६. इससे बढ़कर मनोहर, सुंदर और आश्चर्यकारक क्या होगा कि लोग बहुश्रुत के मुख को चन्द्र-दर्शन की तरह देखते रहते हैं।
५७. ज्ञान और चारित्र—इन दोनों की साधना से ही दुःख का क्षय होता है।
५८. अर्थ अनर्थों का मूल है।
५९. जैसे कि जीवितार्थी के लिए विष हितकर नहीं होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नहीं है।
६०. ज्ञान की लगाम से नियंत्रित होने पर अपनी इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार लाभकारी हो जाती हैं, जिस प्रकार लगाम से नियंत्रित तेज दौड़ने वाला घोड़ा।

दो सी अडतीस

सूक्ति त्रिवेणी

६१. माणुसजाई बहुविचिता ।

—मरण० ६४०

६२. सब्वत्थेसु समं चरे ।

—इतिभासियाइं ११८

६३. मूलसित्ते फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फल ।

—इसि० २१६

६४. मोहमूलाणि दुक्खाणि ।

—इसि० २१७

६५. खीरे दूंसि जघा पप्प, विणासमुवगच्छति ।
एवं रागो व दोसो य, बंभचेरविणासणो ॥

—इसि० ३१७

६६. सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहि ।
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ॥

—इसि० ३१८

६७. मणुस्सहिदयं पुणिणं, गहणं दुव्वियाणकं ।

—इसि० ४१६

६८. संसारसंतईमूलं पुण्णं पावं पुरेकडं ।

—इसि० ९१२

६९. पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्पं डसइ पत्थरं ।
मिगरिऊ सरं पप्प, सरुप्पत्ति विमग्गति ॥

—इसि० १५१२०

७०. अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सब्वदेहिणं ॥

—इसि० २१११

७१. सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साहुधम्मस्स, तथा ज्ञाणं विधीयते ॥

—इसि० २२११३

६१. मानवजाति बहुत विचित्र है ।
६२. साधक को सर्वत्र सम रहना चाहिए ।
६३. मूल को सींचने पर ही फल लगते हैं । मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाता है ।
६४. दुःखों का मूल मोह है ।
६५. जरा-सी खटाई भी जिस प्रकार दूध को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार राग-द्वेष का संकल्प संयम को नष्ट कर देता है ।
६६. बाहर में जलती हुई अग्नि को थोड़े से जल से शांत किया जा सकता है । किंतु मोह अर्थात् तूष्णा रूप अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी शांत नहीं किया जा सकता ।
६७. मनुष्य का मन बड़ा गहरा है, इसे समझ पाना कठिन है ।
६८. पूर्व कृत पुण्य और पाप ही संसार परम्परा का मूल है ।
६९. पत्थर से आहत होने पर कुत्ता आदि क्षुद्र प्राणी पत्थर को ही काटने दौड़ता है (न कि पत्थर मारने वाले को), किंतु सिंह बाण से आहत होने पर बाण मारने वाले की ओर ही झपटता है ।
[अज्ञानी सिर्फ प्राप्त सुख-दुःख को देखता है, ज्ञानी उसके हेतु को ।]
७०. अज्ञान सबसे बड़ा दुःख है । अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, सब प्राणियों के संसार भ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है ।
७१. आत्म-धर्म की साधना में ध्यान का प्रमुख स्थान है जैसे कि शरीर में मस्तक का, तथा वृक्ष के लिए उसकी जड़ का ।

७२. सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मणा ।
पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ॥
--इसि० ३३४
७३. हेमं वा आयसं वावि, बंधणं दुख्खकारणा ।
मह्घस्सावि दंडस्स णिवाए दुक्खसंपदा ॥
--इसि० ४५५
७४. उप्पज्जति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥
--सन्मतिप्रकरण १११
७५. दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं ॥
--सन्मति० ११२
७६. तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिसिस्सया उ ण, हवंति सम्मत्तसव्वभावा ॥
--सन्मति० १११
७७. ण वि अत्थि अण्णवादो, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।
--सन्मति० ३१२६
७८. जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥
--सन्मति० ३१४७
७९. दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जाय देस संजोगे ।
भेदं पडुच्च समा, भावाणं पण्णवणपज्जा ॥
--सन्मति० ३१६०
८०. ण हु सासणभत्ती भेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ ।
ण वि जाणओ वि णियमा, पण्णवणाणिच्छिओ णामं ॥
--सन्मति० ३१६३

७२. जो वाणी से सदा सुन्दर बोलता है और कर्म से सदा सदाचरण करता है; वह व्यक्ति समय पर बरसने वाले मेघ की तरह सदा प्रशंसनीय और जनप्रिय होता है ।
७३. बंधन चाहे सोने का हो या लोहे का, बंधन तो आखिर दुःखकारक ही है । बहुत मूल्यवान दंड (डंडे) का प्रहार होने पर भी दर्द तो हाँता ही है !
७४. पर्यायदृष्टि से सभी पदार्थ नियमेन उत्पन्न भी होते हैं, और नष्ट भी । परन्तु द्रव्य-दृष्टि से सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश से रहित सदाकाल ध्रुव हैं ।
७५. द्रव्य कभी पर्याय के बिना नहीं होता है और पर्याय कभी द्रव्य के बिना नहीं होता है । अतः द्रव्य का लक्षण उत्पाद, नाश और ध्रुव (स्थिति) रूप है ।
७६. अपने-अपने पक्ष में ही प्रतिबद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी नय (मत) मिथ्या हैं, असम्यक् हैं, परन्तु ये ही नय जब परस्पर सापेक्ष होते हैं, तब सत्य एवं सम्यक् बन जाते हैं ।
७७. जैन दर्शन में न एकान्त भेदभाव मान्य है और न एकान्त अभेदवाद । (अतः जैन दर्शन भेदाभेदवादी दर्शन है ।)
७८. जितने वचनविकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने भी नयवाद हैं, संसार में उतने ही पर समय हैं, अर्थात् मत मतान्तर हैं ।
७९. वस्तुत्व की प्ररूपणा द्रव्य^१, क्षेत्र^२, काल^३, भाव^४, पर्याय^५, देश^६, संयोग^७ और भेद^८ के आधार पर ही सम्यक् होती है ।
८०. मात्र आगम की भक्ति के बल पर ही कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नहीं हो सकता और हर कोई सिद्धान्त का ज्ञाता भी निश्चित रूप से प्ररूपणा करने के योग्य प्रवक्ता नहीं हो सकता ।

१. पदार्थ की मूल जाति, २. स्थिति क्षेत्र, ३. योग्य समय, ४. पदार्थ की मूल शक्ति, ५. शक्तियों के विभिन्न परिणमन अर्थात् कार्य, ६. व्यावहारिक स्थान, ७. आस-पास की परिस्थिति, ८. प्रकार ।

८१. सुत्तं अत्थनिमेणं, न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।
अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥
—सन्मति० ३।६४
८२. णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दोवि एगंता ।
—सन्मति० ३।६८
८३. भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥
—सन्मति० ३।६९
८४. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥
—सन्मति० ३।७०
८५. अक्खेहि णरो रहिओ, ण मुणइ सेसिदएहि वेएइ ।
जूयंघो ण य केण वि, जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥
—वसुनन्दि भावकाचार ६६
८६. पासम्मि बहिणिमायं, सिसुं पि हणेइ कोहंघो ।
—वसु० भा० ६७
८७. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं ।
लच्छी विणाससहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५
८८. सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं ।
सव्वेसि गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता ॥
—कार्तिके० ९१
८९. संकप्पमओ जीओ, सुखदुक्खमयं हवेइ संकप्पो ।
—कार्तिके० १८४
९०. अंतरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
—कार्तिके० २०५
९१. हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं ।
—कार्तिके० ३३४

८१. सूत्र (शब्द पाठ) का स्थान अवश्य । परन्तु मात्र सूत्र से अर्थ की प्रति-पत्ति नहीं हो सकती । अर्थ का ज्ञान तो गहन नयवाद पर आधारित होने के कारण बड़ी कठिनता से हो पाता है ।
८२. क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया—दोनों ही एकान्त हैं (फलतः जैन दर्शनसम्मत नहीं हैं ।)
८३. विभिन्न मिथ्यादर्शनों का समूह, अमृतसार = अमृत के समान बलेश का नाशक और मुमुक्षु आत्माओं के लिए सहज सुबोध भगवान जिन-प्रवचन का मंगल हो ।
८४. जिसके बिना विश्व का कोई भी व्यवहार सम्यग् रूप से घटित नहीं होता है, अतएव जो त्रिभुवन का एक मात्र गुरु (सत्यार्थ का उपदेशक) है, उस अनेकान्त वाद को मेरा नमस्कार है ।
८५. आँखों से अंधा मनुष्य, आँख के सिवाय बाकी सब इंद्रियों से जानता है, किन्तु जूए में अंधा हुआ मनुष्य सब इंद्रियाँ होने पर भी किसी इंद्रिय से कुछ नहीं जान पाता ।
८६. क्रोध में अंधा हुआ मनुष्य पास में खड़ी माँ, बहिन और बच्चे को भी मारने लग जाता है ।
८७. जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ बुढ़ापा, लक्ष्मी के साथ विनाश निरंतर लगा हुआ है । इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को नश्वर समझना चाहिए ।
८८. सब जगह प्रिय वचन बोलना, दुर्जन के दुर्वचन बोलने पर भी उसे क्षमा करना और सबके गुण ग्रहण करते रहना— यह मंदकषायी (शान्त स्वभावी) आत्मा के लक्षण हैं ।
८९. जीव संकल्पमय है और संकल्प सुखदुःखात्मक हैं ।
९०. जीव (आत्मा) अन्तस्तत्त्व है, बाकी सब द्रव्य बहिस्तत्त्व हैं ।
९१. साधक दूसरों को संतोष देने वाला हितकारी और मित—संक्षिप्त वचन बोलता है ।

१२. जो बहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेव गिण्हेदि ।
वीसरियं पि न गिण्हदि, लाभे थूये हि तूसेदि ॥
—कार्तिके० ३३५
१३. धम्मो वत्थुसहावो ।
कार्तिके० ४७८
१४. निग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवइ ।
—आराधनासार० २०
१५. मणणरवइए मरणे, मरंति सेणाइं इन्दियमयाइं ।
—आराधना० ६०
१६. सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ ।
—आराधना० ७४
१७. सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहू मडयसंसिट्ठा ॥
—भगवती आराधना० ३४५
१८. अकहितस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ।
—भ० आ० ३६१
१९. वायाए अकहंता सुजणे, चरिदेहि कहियगा होंति ।
—भ० आ० ३६६
१००. किच्चा परस्स णिदं, जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोगं, परम्मि कडुओसहे पीए ॥
—भग० आ० ३७१
१०१. दट्ठूण अण्णदोसं, सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।
—भग० आ० ३७२
१०२. सम्मदंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ।
—भग० आ० ७४२
१०३. णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ।
—भग० आ० ७६०

९२. वही सद् गृहस्थ थावक कहलाने का अधिकारी है, जो किसी की बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य देकर नहीं ले, किसी की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करे, और थोड़ा लाभ (मुनाफा) प्राप्त करके ही संतुष्ट रहे ।
९३. वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका धर्म है ।
९४. मन के विकल्पों को रोक देने पर आत्मा, परमात्मा बन जाता है ।
९५. मन रूप राजा के मर जाने पर इन्द्रियाँ रूप सेना तो स्वयं ही मर जाती है । (अतः मन को मारने—वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए ।)
९६. चित्त को (विषयों से) शून्य कर देने पर उसमें आत्मा का प्रकाश झलक उठता है ।
९७. दुर्जन की संगति करने से सज्जन का भी महत्त्व गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है ।
९८. अपने तेज का बखान नहीं करते हुए भी सूर्य का तेज स्वतः जगविश्रुत है ।
९९. श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणों को वाणी से नहीं, किंतु सच्चरित्र से ही प्रकट करते हैं ।
१००. जो दूसरों की निंदा करके अपने को गुणवान प्रस्थापित करना चाहता है, वह व्यक्ति दूसरों को कड़वी औषध पिला कर स्वयं रोगरहित होने की इच्छा करता है ।
१०१. सत्पुरुष दूसरे के दोष देख कर स्वयं में लज्जा का अनुभव करता है । (वह कभी उन्हें अपने मुंह से नहीं कह पाता) ।
१०२. सम्यक्दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है ।
१०३. मन रूपी उन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है ।

१०४. सव्वेसिमासमाणं ह्दियं गब्भो व सव्वसत्थाणं ।

—भग० आ० ७९०

१०५. जीवो बंभा जीवम्मि च्चैव चरिया, ह्विज्ज जा जदिणो ।

तं जाण बंभच्चेरं, विमुक्कपरदेहत्तिस्स ॥

—भग० आ० ८७८

१०६. होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो, तध ण पित्तउम्मत्तो ।

—भग० आ० १३३१

१०७. कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो ह्वदि ।

—भग० आ० १३६१

१०८. रोसेण रुद्धिदओ, णारगसीलो णरो होदि ।

—भग० आ० १३६६

१०९. सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा ह्वदि लोए ।

णाणं जसं च अत्थं, लभदि सकज्जं च साहेदि ॥

—भग० आ० १३७९

११०. सच्चाण सहस्साण वि, माया एक्कावि णासेदि ।

—भग० आ० १३८४

१११. मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।

—मूलाचार २०२

११२. मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहाविमले ।

—तत्वसार ४१



१०४. अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ—उत्पत्ति स्थान है ।
१०५. ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा, आत्मा में चर्या—रमण करना—ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचारी की पर देह में प्रवृत्ति और तृप्ति नहीं होती ।
१०६. वात, पित्त आदि विकारों से मनुष्य वैसा उन्मत्त नहीं होता, जैसा कि कषायों से उन्मत्त होता है । कषायोन्मत्त ही वस्तुतः उन्मत्त है ।
१०७. क्रुद्ध मनुष्य राक्षस की तरह भयंकर बन जाता है ।
१०८. क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है । वह मनुष्य होने पर भी नारक (नरक के जीव) जैसा आचरण करने लग जाता है ।
१०९. निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन—सभी को सदा प्रिय लगता है । वह ज्ञान, यश और संपत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है ।
११०. एक माया (कपट)—हजारों सत्यों का नाश कर डालती है ।
१११. जिन शासन (आगम) में सिर्फ दो ही बातें बताई गई हैं—मार्ग और मार्ग का फल ।
११२. मन रूपी जल, जब निर्मल एवं स्थिर हो जाता है, तब उसमें आत्मा का दिव्य रूप झलकने लग जाता है ।



क्रान्तिकारी चिन्तक एवं विचारक
पू. उपाध्याय कविश्री अमरमुनिजी ने
गत अर्धशताधिक वर्षों में
आधुनिक विचारों से परिप्लुत
शताधिक ग्रन्थों की निर्मिति की है ।
मानव सेवा एवं आधुनिक शिवषा का केन्द्र
बिहार में राजगृहीस्थित वीरायतन
आप ही की कल्पना शक्ति का सुफल है ।
८८ वर्ष की अवस्था में भी गुरुदेव को
अध्ययनशीलता का परिचायक प्रतीक
अथाह जैन-शास्त्र-सागर-मन्थन प्राप्त
अनमोल रत्नों का यह स्वजाना
सूत्र पाठकों की ज्ञान तृष्णा को तृप्त करेगा ।
साथ में आप पायेंगे, उनका भावानुवाद भी ।



उपाध्याय